किया।' (ख) '*हरषु हिय भरेऊ*' इति। भाव कि विनय सुनकर हर्ष हुआ, चरण पकड़नेसे हर्ष हुआ, प्रेम देखकर हर्ष हुआ और प्रसादका इतना आदर देखकर हर्ष हुआ; इसीसे हृदय हर्षसे भर गया। [वर हर्षसे दिया ही जाता है, अतः अत्यन्त हर्षपूर्वक बोलीं। अथवा, हृदयमें हर्ष इससे भर गया कि हमसे वर माँगकर हमें बड़ाई दे रही हैं। (रा० प्र०)] (ग) '*सत्य असीस*' इति। देवताका आशीर्वाद सदा सत्य ही होता है। यहाँ '*सत्य*' विशेषण देनेका कारण यह है कि शिवचापकी कठोरता, उसका टूटना कठिन जानकर सीताजी घबड़ा-घबड़ा जाती हैं, वचनकी सत्यताका विश्वास छूट-छूट जाता है, इसलिये प्रथम उनका विश्वास दृढ़ करनेके लिये अपने वचनको सत्य कहती हैं तब नारद-वचनको सत्य कहेंगी। (घ) श्रीजानकीजीको आशिष देकर भवानी अपनी वाणी सफल करती हैं। यथा—'*तदपि देबि मैं देबि असीसा। सुफल होन हित निज बागीसा॥*' (ङ) जानकीजीने जो कहा था कि '*मोर मनोरथ जानहु नीके।*' उसीपर भवानी कहती हैं कि '*पूजिहि मनकामना तुम्हारी*', '*पूजिहि*'=पूर्ण होगी, यथा—'*पूजी सकल बासना जी की*', '*जौं यह बचन सत्य श्रुति भाषा। तौ हमार पूजिहि अभिलाषा॥*' इससे श्रीसीताजीके वचनकी सत्यता दिखायी।

टिप्पणी—२ (क) '*नारद बचन सदा सुचि साँचा।*' इति। नारदवचनपर विश्वास मानकर उसे हृदयमें दृढ़तापूर्वक रखे रहें, इसलिये कहा कि उनके वचन सदा सत्य और शुचि हैं। कैसे जाना कि नारदवचनपर विश्वास नहीं रह जाता? इससे कि नारदवचन स्मरण करनेसे पवित्र प्रेम उत्पन्न हुआ था, यथा—'*सुमिरि सीय नारद बचन उपजी प्रीति पुनीत।*' और अब हमसे विकल होकर इस तरह विनय कर रही हैं, इससे यह निश्चय है कि नारदके वचनपर दृढ़ता नहीं है। दृढ़ होतीं, वचनको सत्य मानती होतीं, तो राजकुमारकी सुकुमारता और धनुषकी कठोरता आदि समझकर घबड़ा न जातीं। (ख) अपने सम्बन्धमें तो '*असीस*' कहा—'*सुनु सिय सत्य असीस हमारी*' और नारदके विषयमें '*बचन*' कहा। कारण कि नारदजीने भावी कही है, आशीर्वाद नहीं दिया था, इसीसे पूर्व भी '*बचन*' ही शब्द कविने दिया था, '*सुमिरि सीय नारद बचन*' और यहाँ गौरीजीने भी '*नारद बचन*' कहा। (ग) श्रीजानकीजीको विश्वास करानेके लिये दोनों जगह '*सत्य*' विशेषण दिया। '*सत्य असीस हमारी*' और '*नारद बचन साँचा।*' अर्धालीके पूर्वार्द्धमें नारदके वचनोंपर दृढ़ विश्वास करनेका उपदेश देकर उत्तरार्द्धमें नारदजीके वचन दुहरा दिये—'*सो बरु—।*' ☞सीताजीने जो कहा था कि '*मोर मनोरथ जानहु नीके। बसहु—*' वह मनोरथ यहाँ खोल दिया। इससे भगवतीका सबके उरमें बसना सिद्ध हुआ कि हृदयकी बात जान ली। (घ) '*सुचि साँचा*' इति। यथा—'*अब उर धरहु ब्रह्म बरबानी। सत्य सदा संतत सुचि जानी॥*' (७५। २) में देखिये। [सदा सत्य है, यथा—'*बरु पावक प्रगटै ससि माहीं। नारद बचन अन्यथा नाहीं॥*' (७१। ८) '*साँचा*' का भाव यह भी है कि जैसे मैं देवी हूँ, वैसे ही नारदजी भी देवर्षि हैं, शुचि हैं अर्थात् संशय, भ्रम, वाक्-छल आदि दोषोंसे रहित हैं। बैजनाथजी लिखते हैं कि 'ब्रह्माजीने हिरण्यकशिपुको जो वर दिया वह सच्चा था पर शुचि न था; क्योंकि उसमें मृत्युका कारण गुप्त रहा। और नारदके वचनोंमें कुछ कारण गुप्त नहीं है, वह अमल सच्चा है, सदा एकरस सत्य है।' पार्वतीजी स्वयं अपने विषयमें नारदवचनकी पूरी परीक्षा पा चुकी ही हैं, अतः शुचि-सत्य कहना ठीक ही है। त्रिपाठीजी लिखते हैं कि भाव यह है कि 'आशीर्वाद मिथ्या भी पड़ जाता है, इसलिये कहती हैं कि मेरी असीस सत्य है। मैं अपनी अनुभूत बात कहती हूँ कि नारदवचन अन्यथा नहीं हो सकता।']

छंद—मन जाहि राचेउ मिलिहि सो बरु सहज सुंदर साँवरो।*
करुनानिधान सुजानु सीलु सनेह जानत रावरो॥
येहि भाँति गौरि असीस सुनि सिय सहित हिय हरषीं अलीं।
तुलसी भवानिहि पूजि पुनि पुनि मुदित मन मंदिर चलीं॥

* १६६१में 'साँवरे, रावरे' पाठ है। अन्य सबोंमें 'साँवरो, रावरो' है।

अर्थ—जिसमें तुम्हारा मन रँग गया है, वही सहज ही सुन्दर साँवला वर (दूलह) तुमको अवश्य मिलेगा। वे करुणाके समुद्र हैं, सुजान हैं, तुम्हारे शील और स्नेहको जानते हैं। इस प्रकार गौरीकी असीस सुनकर सीतासहित सब सखियाँ प्रसन्न हुईं। तुलसीदासजी कहते हैं कि बारम्बार भवानीकी पूजा कर प्रसन्न मनसे घरको चलीं।

टिप्पणी—१ (क) सीताजीने जो कहा था कि *'बसहु सदा उर पुर सबही के'* वह यहाँ सिद्ध हुआ। सीताजीने अपने उरकी बात नहीं कही—*'कीन्हेउँ प्रगट न कारन तेही।'* पार्वतीजी जान गयीं। (स्मरण रहे कि *'सो जानै जेहि देहु जनाई।'*) जानकीजी श्यामल मूर्तिको हृदयमें धरकर चलीं, यही बात पार्वतीजी कहती हैं—*'मन जाहि राचेउ……।'* (ख)—पार्वतीजीने तीन बार मनोकामना पूर्ण होनेकी बात कही, *'पूजिहि मन कामना तुम्हारी'* यह पूर्व कहकर यहाँ मनोकामना खोली कि *'सो बरु मिलिहि जाहि मनु राँचा'* अर्थात् वाञ्छित वर मिलेगा, पर इससे यह न ज्ञात हुआ कि वाञ्छित वर कौन है, उसे भी जानती हैं, अतः आगे कहती हैं कि *'बरु सहज सुंदर साँवरो'* अर्थात् साँवले वरकी तुम्हारी कामना है जिसे हृदयमें रखी हो। जानकीजीके संतोषके लिये तीन बार कहा; यथा—*'पुरउब मैं अभिलाष तुम्हारा। सत्य सत्य पन सत्य हमारा॥ पुनि पुनि अस कहि कृपा निधाना।'* (१५२। ५-६) [वा, श्रीसीताजी चरण पकड़े हुए प्रेममें बेसुध थीं, इससे बार-बार कहा। (ग)—पाँड़ेजी लिखते हैं कि *'सहज'* शब्द *'मिलिहि'* और *'सुंदर'* दोनोंके साथ है। *'मन जाहि राच्यो'* में जानकीजीकी प्रधानता है कि तुम्हारे मनकी रुचिसे मिलेंगे। और *'करुनानिधान……'* में रामजीकी प्रधानता है।] (घ)—*'करुनानिधान सुजान'* इत्यादिके भाव कि करुणानिधान हैं, अतः तुमपर अवश्य करुणा करेंगे, (यथा—*'सियहिं बिलोकि तकेउ धनु कैसें। चितव गरुरु लघु ब्यालहि जैसें॥'* (२५९। ८) सुजान हैं अतः तुम्हारे शील और स्नेहको जानकर तुम्हें अपनी किंकरी करेंगे; यथा—*'तुलसी सुसीलु सनेहु लखि निज किंकरी करि मानिबी॥'* (३३६) *'सहज सुंदर'* से बाहरी अङ्गोंकी शोभा कही कि उनको आभूषण आदि शृङ्गारकी आवश्यकता नहीं, बिना किसी शृङ्गारके ही वे सुन्दर हैं। और *'करुनानिधान सुजान'* से भीतरकी शोभा कही। [श्रीपार्वतीजी इन गुणोंका भलीभाँति परिचय पा चुकी हैं। प्रभुहीने कृपा करके श्रीशिवजीसे आपका संयोग कराया था; यथा—*'अति पुनीत गिरिजा कै करनी। बिस्तर सहित कृपानिधि बरनी॥ ……जाइ बिबाहहु सैलजहि……॥'* (७६) सुजानका परिचय; यथा—*'मन महुँ रामहि सुमिर सयानी॥'* (५९। ५) जैसे ही उन्होंने श्रीरामजीको सुमिरा वैसे ही उन्होंने उनका मनोरथ पूरा किया।—*'स्वामि सुजान जान सब ही की॥'* (२। ३१४) *'रीझत राम जानि जन जी की।……करत सुरति सय बार हिए की॥'* (१। २९) *'जान सिरोमनि कोसलराऊ॥'* (१। २८) श्रीजानकीजीका शील स्नेह जानते हैं। यथा—*'प्रभु जब जात जानकी जानी। सुख सनेह सोभा गुन खानी॥'* (२३५। २)]

टिप्पणी—२ (क)—*'येहि भाँति।'* अर्थात् स्पष्टरूपसे यह आशीर्वाद कि साँवला वर मिलेगा। सबको हर्ष हुआ क्योंकि सब जानती हैं कि साँवला वर जानकीयोग्य है; यथा—*'एहि लालसा मगन सब लोगू। बरु साँवरो जानकी जोगू॥'* (२४९। ६) (ख) *'सिय सहित हरषीं अलीं'* इति। यहाँ अली प्रधान हैं और सीताजी गौण, यद्यपि हर्षमें सीताजीकी ही प्रधानता चाहिये थी। यह बारीकी, सूक्ष्म भाव समझनेयोग्य है। आशिष सुनकर सीताजीको अपना हर्ष प्रकट करनेमें संकोच हुआ; सबके सामने लज्जा लगी ही चाहे। और सब सखियोंका हर्ष प्रकट है। इसीसे यहाँ सखियोंको प्रधान रखा। सखियोंको पहले यह न मालूम था कि नारदवचन क्या थे, इससे जब उनको यह मालूम हो गया तब उनको हर्ष हुआ, क्योंकि उनके मनके अनुकूल हुआ। (ग) *'भवानिहि पूजि पुनि पुनि'* इति। मारे हर्षके बारम्बार पूजती हैं। इससे आनन्दमग्नता और कृतज्ञता जनाती हैं। यहाँ आनन्द प्रेमकी वीप्सा है, यथा—*'प्रेम बिबस पुनि पुनि पद लागीं॥'* (३३६। १) (घ) *'गईं मुदित मन गौरि निकेता'* उपक्रम है और *'मुदित मन मंदिर चलीं'* उपसंहार है। आदिमें मुदित मनसे भगवतीकी पूजाके लिये मन्दिरमें गयीं और अब वर पाकर मुदित मनसे घरको चलीं।

नोट—१ *'तुलसी भवानिहि पूजि'* के और भाव—*'पुनि पुनि'* पूजा करनेमें तुलसीदास भी मिल गये—शामिल हो गये कि हे भगवती! 'साँवला वर हमारा भी स्वामी होवे'। (पं० रामकुमार) पुनः, तुलसी

और भवानी दोनोंकी पूजा करके—(पाँड़ेजी)। *'पूजि पुनि पुनि'* कृतज्ञता प्रकाशनार्थ है।

नोट—२ ☞शब्द गुणका वर्णन ही कहाँतक किया जाय? अनुप्रास जगह-जगह है। यहाँ और आगे दोहेमें 'स', 'रा', 'ल' 'म' इत्यादि माधुर्यगुण और रसप्रधान अक्षर ही प्रधान हैं।—(लमगोड़ाजी)

प० प० प्र०—*'मंदिर चलीं'* इति। देखिये, पुष्पवाटिका-प्रसंगमें *'गिरिजा गृह सोहा', 'गई भवानी भवन बहोरी', 'गौरि निकेता'* कहा, भवानीके स्थानको एक बार भी मन्दिर नहीं कहा। और यहाँ *'मंदिर चलीं'* कहते हैं। इस तरह कविने अपनी गूढ़ भावना दर्शित की है। भाव यह है कि अब सीताजी रामजीको हृदयमें बिठाये हुए हैं, अतः सीताजी ही राम-मन्दिर बन गयी हैं।

सो०—जानि गौरि अनुकूल सिय हिय हरषु न जाइ* कहि।
मंजुल मंगल मूल बाम अंग फरकन लगे॥ २३६॥

अर्थ—गौरीजीको प्रसन्न जानकर सीताजीके हृदयको जो आनन्द हुआ वह कहा नहीं जा सकता। सुन्दर मङ्गलोंके मूल उनके बायें अङ्ग फड़कने लगे॥ २३६॥†

टिप्पणी—१ पूर्व सखियोंके साथ सीताजीका हर्ष लिखकर अब पृथक् कहते हैं, क्योंकि वहाँ सखियाँ प्रधान थीं, सीताजीका हर्ष वहाँ सामान्य ठहरा, अब विशेष कहते हैं। इस सोरठेमें जो विशेष हर्ष तथा वामाङ्गोंका स्फुरण वर्णन किया गया, यह गिरिजा-मन्दिरसे चल देनेपर मार्ग और घरपरका है। मन्दिरमें गौरीकी असीस प्रकट थी, इससे वहाँ हर्षित होते न बना, वहाँ वे अपना हर्ष छिपाये रहीं। गौरीको अनुकूल जानना मनकी बात है, प्रकट नहीं है, इसीसे हृदयमें अत्यन्त हर्ष होना कहते हैं। मन्दिरमें सीताजीका विशेष हर्ष न कहते बना, इसीसे सामान्य कहा। वहाँ विशेष कहनेका मौका न था, क्योंकि विशेष हर्ष होनेमें लज्जाकी बात थी, अब विशेष हर्षका मौका है, उनको विशेष हर्ष हुआ भी है—*'सिय हिय हरषु न जाइ कहि'* इससे प्रथम न कहा और अब न कहें तो नहीं बनता, इससे अब उचित अवसर जानकर कहा। [*'न जाइ कहि'*—यह हर्ष अकथनीय है। अतः उनकी विशेषता तथा प्रधानता दरसानेके लिये एक सोरठेमें उनका हर्ष कहा। इस अकथनीय हर्षके कारण है गौरीका अनुकूल होना और वाम अङ्गोंका फड़ककर मङ्गलकी सूचना देना। त्रिपाठीजी लिखते हैं कि सखियाँ सीताजीके मनोरथ-पूर्तिकी दृढ़ आशा तथा भयके दूर हो जानेसे हर्षित हैं, पर सीताजीको अपनी निधिकी प्राप्तिके निश्चित आश्वासनसे हर्ष है, अतः वह अवर्णनीय है। *'मंजुल मंगल'* सुन्दर मंगल कहकर जनाया कि मंगल असुन्दर भी होते हैं। **मंगल**=अभीष्टकी सिद्धि। काम-क्रोधादिद्वारा निन्दित कर्मों या विचारों अथवा सांसारिक विषयोंद्वारा उत्पन्न मङ्गल मलिन हैं। शुद्ध सात्त्विक मंगल मंजुल हैं। विशेष—*'मंजुल मंगल मोद प्रसूती॥'* (१। ३) देखिये। *'बाम अंग'*—स्त्रियोंके बायें अङ्गोंका फड़कना मङ्गलसूचक है; यथा—*'प्रभु पयान जाना बैदेहीं। फरकि बाम अँग जनु कहि देहीं॥'* (५। ३५) *'जब अति भयउ बिरह उर दाहू। फरकेउ बाम नयन अरु बाहू॥'* (६। ९९) इत्यादि। वाम अङ्ग अर्थात् बायाँ नेत्र और बाहु। शुभाङ्गोंका फड़कना प्रियतमके मिलनेका द्योतक है, यथा—*'फरकहिं मंगल अंग सुहाए। सगुन प्रतीति भेंट प्रिय केरी॥'* (२। ७। ४—६)

नोट—१ (श्रीलमगोड़ाजी)—अङ्गोंके फड़ककी अवस्था भी श्रीसीताजीमें अब जाकर देवीके आशीर्वादके

* जात—रा० प्र०, गौड़जी, ना० प्र० स०। जाइ—१६६१।

† अर्थान्तर—१ श्रीसीताजीने मालाको उठाकर सिरपर धारण किया तब गौरीजीने हर्ष अर्थात् प्रेमविवशताको समेट हृदयमें धर लिया और बोलीं। (पाँ०) २—'हे सीते! इसे आदरपूर्वक धारण करो। यह सुहागदान है, सुहागका स्थान माँग है, वहाँ इसे धारण करो। और पातिव्रत्यका स्थान 'उर' है, वह हमने परिपूर्ण दिया अतएव हृदयमें हर्ष भर लो।' (वै०) (पाँड़ेजीका मत है कि पार्वतीजी प्रेमविवश हो गयी थीं। उस प्रेमविवशताको उन्होंने हृदयमें रोका तब बोल सकीं। इस तरह वे 'हर्ष' का अर्थ 'प्रेमविवशता' और 'धरेऊ' का अर्थ 'उसे भीतर रख लिया, गुप्त कर लिया' कहते हैं। बैजनाथजी 'सादर सिय प्रसाद सिर धरेऊ' को गौरीका वाक्य मानते हैं और 'धरेऊ' का अर्थ 'धरो' करते हैं)।

उपरान्त ही उत्पन्न हुई, परंतु श्रीराममें जल्दी उत्पन्न हो गयी थी, कारण कि वे पुरुष हैं। २—पाँड़ेजी लिखते हैं कि 'गौरीशब्द यहाँ बड़ाईकी इच्छा लिये हुए है। अपने श्रीके अनुकूल अपने धर्मको देख—यद्वा अपने मनोरथके अनुकूल गौरीको देखकर अकथनीय हर्ष हुआ। सिय शब्द भी अर्थानुकूल है अर्थात् शीतभरी हुई हैं।'

हृदय सराहत सीय लोनाई। गुर समीप गवने दोउ भाई॥ १॥
रामु कहा सबु कौशिक पाहीं। सरल सुभाउ छुअत* छल नाहीं॥ २॥

अर्थ—(श्रीरामजी) श्रीसीताजीकी सुन्दरता हृदयमें सराह रहे हैं। दोनों भाई गुरुके समीप गये॥ १॥ श्रीरामजीने सब कुछ श्रीविश्वामित्रजीसे कह दिया (क्योंकि) उनका सरल (सीधा-सादा, निष्कपट निश्छल) स्वभाव है। छल तो उंसे छूता भी नहीं॥ २॥

गौड़जी—'*हृदय सराहत*...*दोउ भाई*' इति। अन्वय करनेमें '*गुरु समीप गवने दोउ भाई*' को पहले पढ़कर फिर '*हृदय सराहत सीय लोनाई*', '*रामु कहा सबु कौशिक पाहीं*' पढ़ना चाहिये। '*रामु*' शब्दके साथ '*हृदय सराहत*' का सम्बन्ध स्पष्ट हो जाता है।

टिप्पणी—१ '*हृदय सराहत*......' इति। '*गवने*' में दोनों भाइयोंको और '*सीय लोनाई*' सराहनेमें केवल रामको अर्थ करते समय समझ लेना चाहिये। इस ग्रन्थमें प्रसङ्ग आदि पूर्वापरका विशेष विचार चाहिये। जहाँ जैसा अर्थ लगे वैसा लगावे। पूर्वापर विचार करनेसे अर्थ सिद्ध होता है। जैसे—'*माया ब्रह्म जीव जगदीसा। लच्छि अलच्छि रंक अवनीसा॥*' में माया, ब्रह्म, जीव, जगदीश—ये सब ब्रह्माके बनाये नहीं हैं, ब्रह्माके '*उपजावे*' में न लगावें वरंच '*गुन अवगुन सानें*' में लगावें—'*बिधि प्रपंच गुन अवगुन साना।*' और जो ब्रह्माके उपजाये हैं उनको ब्रह्माके उपजाये कहें। पुनः, जैसे—'*सभय रानि कह कहसि किन कुसल राम महिपाल। भरत लषन रिपुदवन सुनि भा कुबरी उर साल॥*' में कुबरीके उरमें शाल रामहीका कुशल सुनकर हुआ न कि भरतादिका कुशल सुनकर। वैसे ही यहाँ अक्षरार्थ लेनेसे '*हृदय सराहत*' का कर्त्ता '*दोउ भाई*' होगा। पर यह असिद्ध है, लक्ष्मणजीके विषयमें ऐसा कहना अयोग्य है, पूर्वापरसे केवल रामजीका सराहना सिद्ध होता है। (पाँड़ेजीका भी यही मत है।)

श्रीलमगोड़ाजी—जहाँतक शृङ्गारके माधुर्यका सम्बन्ध है दोनों भाइयोंका '*सीय लोनाई*' सराहना अनुचित नहीं, Aes thetic faculty देखिये। सीताजीने भी वनमें सखियोंसे लखनलालकी सुन्दरताकी सराहना की है—'*सहज सुभाय सुभग तन गोरे। नामु लखन लघु देवर मोरे॥*' श्रीमैथिलीशरणजीने भी देवर-भौजाईके सरल-सरस परंतु शुद्ध मजाक लखनलालजी और सीताजीके अपने 'साकेत' में लिखे हैं। (पर मानस और वाल्मीकीयके लक्ष्मणने कभी श्रीसीताजीके चरण छोड़कर कुछ देखा ही नहीं है।)

प्र० स्वामी लिखते हैं कि टि० २ में जो लिखा है कि 'जहाँसे सम्बन्ध छोड़ते हैं, वहींसे फिर उठाते हैं' यह सत्य है। पर सम्बन्ध छोड़ा '*परम प्रेम मय मृदु मसि कीन्ही। चारु चित्त भीती लिखि लीन्ही॥*' (२३५। ३) पर '*हृदय सराहत बचन न आवा*' पर प्रसङ्ग नहीं छोड़ा है। इसके पश्चात् बहुत विचार किया है, लक्ष्मणजीसे समयानुकूल कहा भी है। '*चारु चित्त भीती लिखि लीन्ही*' का सम्बन्ध यहाँके '*हृदय सराहत सीय लोनाई*' से जोड़ देनेसे शंका नहीं रह जाती। भाव यह कि जिन्होंने अपने चारु चित्त-भीतिपर सीय-मूर्तिको लिख लिया था, वे उस समय '*हृदय सराहत सीय लोनाई*' और '*गुरु समीप गवने दोउ भाई।*' [पं० रामकुमारका आशय यह है कि '*हृदय सराहत*' का प्रसङ्ग वहाँ छोड़कर बीचमें और बातें कवि कहने लगे थे, अब पुनः '*हृदय सराहत*' से चलनेका प्रसङ्ग उठाते हैं। जैसे स्वामीजीने 'जिन्होंने' शब्द बढ़ाकर सम्बन्ध मिलाया है, वैसे ही पं० रामकुमारजीके अनुसार जो पूर्व '*हृदय सराहत*' थे, वे ही '*हृदय सराहत*.........।' तथापि यह तो केवल भाव हुआ। यहाँकी चौपाई एक पूरा स्वतन्त्र वाक्य है; यहाँसे '*चारु चित्त भीती*.........' वाली चौपाई बहुत दूर है। अतः '*दोउ भाई*' वाली शङ्का अवश्य

* १६६१ में 'छुअत' ऐसा है। चिह्न देकर ऊपर लाल रंगसे 'त' लिखा है, प्रायः अन्य पुस्तकोंमें छुआ पाठ है।

लोग उठा सकते हैं और उसका समाधान स्वतन्त्र वाक्य मानकर करना ही अधिक अच्छा है। वि० त्रि० भी २३५ (३) पर प्रसङ्ग छोड़ना लिखते हैं।]

नोट—१ पाँड़ेजी तथा बैजनाथजीका मत है कि जैसे श्रीजानकीजी अपना मनोरथ लेकर भवानीके पास गयीं, वैसे ही श्रीरघुनाथजी अपना मनोरथ लेकर गुरुके पास गये। छल नहीं छू गया है। अतः प्रत्येक बात अक्षरशः सत्य-सत्य कह दी; क्योंकि मनोरथ सिद्ध कराना चाहते हैं, यह माधुर्यभाव है। ऐश्वर्यमें सत्यसंध, सत्यव्रत, सत्यप्रतिज्ञ हैं—'**रामो द्विर्नाभिभाषते।**' इससे सब सत्य-सत्य कह दिया।

टिप्पणी—२ (क) जहाँसे सम्बन्ध छोड़ते हैं वहींसे फिर कहते हैं। '***देखि सीय सोभा सुख पावा। हृदय सराहत बचन न आवा॥***' पूर्व कहा था, '***हृदय सराहत सीय लोनाई*** ……।' यहाँ कहा। श्रीसीताजी '***मुदित मन मंदिर चलीं***' और ये दोनों '***गुर समीप गवने।***' राजकुमारीका राजमहल मन्दिर है, इससे उनका मन्दिरमें जाना कहा और मिथिलाजीमें इनका (श्रीरामजीका) घर नहीं है, इससे मन्दिरमें जाना न कहा। पूर्व '***समय जानि गुर आयसु पाई। लेन प्रसून चले दोउ भाई॥***' कहा था, अतः '***गुर समीप गवने***' कहा। (ख) पूर्व प्रथम रामजीका वाटिकामें आना कहकर तब पीछे सीताजीका आना कहा था, इसीसे अबकी प्रथम सीताजीका जाना कहकर पीछे रामजीका जाना कहा। तात्पर्य कि ग्रन्थकारकी प्रीति राम-जानकीमें समान है। (यह बात आगे दिखावेंगे कि यहाँ युगल सरकारोंका प्रसङ्ग एक समान लिखा गया है, किञ्चित् भी कहीं न्यूनाधिक्य नहीं है।) (ग) दोनों भाइयोंका वाटिकामें जाना लिखा था, इसीसे दोनोंका साथ लौटना भी कहा। (घ) '***राम कहा सबु*** ……' इति। शृङ्गारकी बात मुनिसे कहने योग्य न थी पर वह भी कह दी, इसीपर कहते हैं कि उनका '***सरल सुभाउ*** ……'। उनके स्वभावमें छलका लेश भी नहीं, इसीसे सब कह दिया। यथा—'***निर्मल मन जन सो मोहि पावा। मोहि कपट छल छिद्र न भावा॥***' गुरुसे दुराव करनेसे विवेक नहीं होता, यथा—'***संत कहहिं अस नीति प्रभु श्रुति पुरान मुनि गाव। होइ न बिमल बिबेक उर गुरु सन कियें दुराव॥***' (४५) यदि सब न कहते तो कपट ठहरता, क्योंकि कहने योग्य न था। छलके छूनेका स्वरूप यह है कि कालादिकी प्रबलतासे महात्माओंमें जब किसी प्रकारका कपट-छल आ जाता है, तो वे उसको विचारसे त्याग कर देते हैं; तात्पर्य कि औरोंके हृदयमें छल आ जाता है, अधर्म समझकर वे छल नहीं करते, पर रामजीमें वह आता ही नहीं। जहाँ छलका स्पर्श भी नहीं, वहाँ उसका त्याग कैसा?

टिप्पणी—३ (क) ☞नगर देखकर जब आये तब प्रणाम किया; यथा—'***सभय सप्रेम बिनीत अति सकुच सहित दोउ भाइ। गुर पद पंकज नाइ सिर बैठे आयसु पाइ॥***' (२२५) पुनः जब सन्ध्या करके आये तब प्रणाम किया, यथा—'***करि मुनिचरन सरोज प्रनामा। आयसु पाइ कीन्ह बिश्रामा॥***' पर फूल लेकर आये तब प्रणाम नहीं किया। क्योंकि शास्त्राज्ञा है कि फूल लिये हुए प्रणाम न करे, अन्यथा वे पुष्पादि देवताके योग्य नहीं रह जाते। शास्त्रमर्यादाका पालन यहाँ दोनों ओरसे दिखाते हैं। पूजाके प्रारम्भमें फूल पहुँचे, दूसरे दोनोंके हाथोंमें अमनिया फूल थे; इन हालतोंमें आशीर्वाद देनेका निषेध है। यथा—'**पुष्पहस्ते वारिहस्ते तैलाभ्यङ्गे जले स्थिते। आशीर्नमः प्रकर्त्तारावुभौ नरकगामिनौ॥**' (प्रसिद्ध) इसीसे फूल लिये हुए नमस्कार न किया और न मुनिने आशीर्वाद दिया। फूल लेकर जब पूजा कर चुके तब आशीर्वाद दिया, जैसा आगे स्पष्ट है।

सुमन पाइ मुनि पूजा कीन्ही। पुनि असीस दुहु भाइन्ह दीन्ही॥ ३॥
सफल मनोरथ होंहु* तुम्हारे। रामु लखनु सुनि भये सुखारे॥ ४॥
करि भोजनु मुनिबर बिज्ञानी। लगे कहन कछु कथा पुरानी॥ ५॥

अर्थ—फूल पाकर मुनिने पूजा की, फिर दोनों भाइयोंको आशीर्वाद दिया॥ ३॥—'तुम्हारे मनोरथ

* होउ—रा० प०, १७०४। होंहु—१६६१। ऐसा प्रयोग मानस तथा विनय आदिमें बहुत है। होउ=होवे। होंहु-हों, होवें।

सफल हों।' श्रीराम-लक्ष्मणजी (आशीर्वाद) सुनकर सुखी हुए॥ ४॥ विज्ञानी मुनिश्रेष्ठ भोजन करके कुछ पुरानी कथा कहने लगे॥ ५॥

टिप्पणी—१ (क) '***सुमन पाइ मुनि पूजा कीन्ही***' से सूचित होता है कि फूल समयपर आये, न तो प्रथमसे आये कि देरतक धरे रहते और न देरहीको आये कि मुनिको राह देखनी पड़ती, उधर, पूजाका प्रारम्भ हुआ, इधर फूल पहुँचे। (ख) '***पुनि असीस दुइ भाइन्ह दीन्ही***'—इससे जनाया कि सुमन बहुत उत्तम-उत्तम थे और ठीक समयमें आये थे, जिससे मुनि दोनों भाइयोंपर प्रसन्न हुए और दोनोंको आशीर्वाद दिया। इससे यह भी जनाया कि दोनों भाइयोंने पृथक्-पृथक् अपने-अपने फूलोंके दोने दिये। (ग) '***सफल मनोरथ होहुँ तुम्हारे***' इति। श्रीरामजीने सब बात निष्कपट मुनिसे कह दी तब तो उनको आशीर्वाद देना था कि तुमको राजकुमारी मिले पर ऐसा न कहकर यह कहा कि तुम्हारे मनोरथ सफल हों, यह क्यों? इसलिये कि यदि सीताप्राप्तिका आशीर्वाद देते तो दोनों भाइयोंका मनोरथ सफल न होता, और यदि कहते कि दोनोंको मनोवाञ्छित स्त्रियाँ प्राप्त हों तो भी मनोरथ न सफल होता, क्योंकि रामजीका मनोरथ है कि चारों भाइयोंके विवाह एक साथ ही हों, जैसे जन्मसे लेकर सभी संस्कार एक ही साथ होते आये हैं—'***जनमे एक संग सब भाई। भोजन सयन केलि लरिकाई॥ करनबेध उपबीत बिआहा। संग संग सब भए उछाहा॥***' (२। १०) इसीसे मुनिने समझ-बूझकर आशीर्वाद दिया। अतः '***होहुँ तुम्हारे***' बहुवचनका प्रयोग हुआ। मुनिका आशिष सुन-समझकर दोनों भाइयोंको सुख हुआ। [श्रीलक्ष्मणजीका अपना कोई मनोरथ नहीं है। उनका मनोरथ तो यही है कि श्रीरामजी ही धनुष तोड़ें और श्रीसीताजीको व्याहें, इसीमें उनको सुख है, यथा—'***ऐसहिं प्रभु सब भगत तुम्हारें। होइहहि टूटे धनुष सुखारें॥***' (२३९। ३) श्रीरघुनाथजीको जिसमें सुख हो उसीमें वे सुख मानते हैं। वे चाहते हैं कि त्रिलोक-विजयरूपा श्रीजानकीजी श्रीरामजीको प्राप्त हों। आशीर्वादसे श्रीसीताजीकी प्राप्तिका निश्चय हो गया। अतः सुखी हुए। (पां०) संध्या करनेके बाद, पूजनके पश्चात् अथवा भोजनके पश्चात् जो ब्राह्मणके मुखसे निकलता है वह सत्य होता है। अतएव पूजनके बाद आशीर्वाद दिया गया। (वि० त्रि०)]

टिप्पणी—२ (क) '***करि भोजनु मुनिबर बिज्ञानी***' इति। कलके भोजनमें श्रीरामजी प्रधान थे, यथा—'***रिषय संग रघुबंस मनि करि भोजन बिश्रामु।***' (२१७) इसीसे भोजन करके वहाँ विश्राम करना कहते हैं क्योंकि ये राजकुमार हैं, इनको भोजन करके विश्राम करना उचित है। और, आजके भोजनमें मुनि प्रधान हैं, इसीसे आज भोजन करके विश्राम करना नहीं लिखते, क्योंकि मुनि तपस्वी हैं, वे भोजन करके विश्राम नहीं करते, वे तो हजारों वर्ष खड़े रहनेवाले हैं, कथा ही उनका विश्राम है। (ख) कल कथा रात्रिमें हुई, यथा—'***कहत कथा इतिहास पुरानी। रुचिर रजनि जुग जाम सिरानी***', और आज कथा दिनमें हुई। इससे जनाया कि कथाके मुख्य श्रोता श्रीरामजी हैं, यथा—'***भगति हेतु बहु कथा पुराना। कहे बिप्र जद्यपि प्रभु जाना॥***' (२१०। ८) श्रीरामजी दूसरे समय नगरदर्शनके लिये चले गये थे, इसीसे कथा रात्रिमें हुई, आज कहीं गये नहीं इसीसे कथा दिनमें हुई। (ग) तीसरे दिन भोजनका उल्लेख नहीं हुआ, क्योंकि उस दिन धनुषयज्ञमें गये। बारह बजे धनुष टूटा फिर परशुराम-संवाद हुआ। धनुष तोड़नेपर अब रामजी दामाद हो गये। उसके पहले अतिथि थे। जबतक अतिथि थे तबतक अतिथि-सेवा कही। आगे जब बाराती अतिथि आवेंगे तब फिर जेवनार कहेंगे।

नोट—१ यज्ञरक्षाके पश्चात् कहा है कि '***तहँ पुनि कछुक दिवस रघुराया। रहे कीन्हि बिप्रन्ह पर दाया॥ भगति हेतु बहु कथा पुराना। कहे बिप्र जद्यपि प्रभु जाना॥***' (२१०। ७-८) यहाँ कथाका समय नहीं दिया गया। इससे जनाया कि सबेरे, दोपहरको भोजनके पश्चात् और फिर सायं सन्ध्याके पश्चात् तीनों कालोंमें आजकल कथा होती है। '***रिषय संग रघुबंसमनि करि भोजन बिश्रामु।***' (२१७) यहाँ 'विश्राम' का अर्थ 'सोना' नहीं है। शरद्-ऋतुमें दिनमें सोना निषिद्ध है। चलकर आये हैं, थके हैं, अतः आज भोजनके

पश्चात् कथा दिनमें नहीं हुई। नगरदर्शन और संध्याके पश्चात् हुई। यथा—'*कहत कथा इतिहास पुरानी। रुचिर रजनि जुग जाम सिरानी॥*' (२२६। २)

दूसरे दिन प्रातः नित्य क्रियासे निबटकर वाटिकासे पुष्प आदि लाये, गुरुने पूजा की, आशीर्वाद दिया। तत्पश्चात् भोजन हुआ। भोजनके पश्चात् दिनमें कथा हुई। यथा—'*करि भोजनु मुनिबर बिज्ञानी। लगे कहन कछु कथा पुरानी॥*' (२३७। ५) रातमें कथा नहीं हुई। इन दोनों प्रसंगोंपर विचार करनेसे यह भी सूचित होता है कि इस समय एक ही समय कथाका नियम था। दिनमें कथा हुई तो रात्रिमें नहीं, दिनमें न हुई तो रात्रिमें अवश्य होती थी। और जब मुनिके आश्रममें थे तब यज्ञ-रक्षाके समयतक कथा बन्द थी, यज्ञरक्षाके पश्चात् तीनों समय कथा होती थी। पुनः इन प्रसंगोंसे यह भी स्पष्ट है कि जबसे मुनिके साथ आये तबसे रात्रिमें भोजन नहीं करते; मुनि एक ही समय भोजन करते हैं, अतः ये भी एक ही समय करते हैं। इसीसे विश्वामित्रजीके साथ रात्रिमें भोजनकी चर्चा कहीं नहीं की गयी।

प० प० प्र०—भोजनोपरान्त विश्राम करनेका अवसर न दिया, क्योंकि पूजाके लिये दल-फूल समयपर न मिलनेसे भोजन देरमें हुआ, दूसरे, मुनि विज्ञानी हैं, जानते हैं कि युगल कुमार आज सायं संध्या-वन्दन करके शीघ्र न लौट सकेंगे और कल तो शीघ्र ही नित्यकर्म करके धनुर्भंगके लिये जाना पड़ेगा। तीसरे, वात्सल्यमें यह भी कहा कि आज राजकुमारोंको जल्दी सो जाना चाहिये, कल धनुर्भंगके लिये उत्साह आदिकी वृद्धि होनी चाहिये, अतः आज रात्रिमें कथाके लिये समय नहीं रहेगा।

नोट—२ (क) राजपुत्र और राजकुमारीका संयोग जाननेसे '*बिज्ञानी*' कहा। (राजा दशरथसे इन्होंने कहा ही था—'*इन्ह कहँ अति कल्यान।*' (२०७)) विवाह और तीनों लोकोंके राजाओंपर विजय ही '*अति कल्यान*' है। (पां०) पुनः '*बिज्ञानी*' से जनाया कि कथामें ज्ञान-विज्ञानकी चर्चा होगी। और 'कथा कहने लगे' से सूचित किया कि भक्तिप्रधान कथा कहने लगे। सारांश कि ज्ञान-विज्ञानोत्तर भक्तिविषयक कथा कही। (प० प० प्र०) (ख) कोई-कोई (शृङ्गारी लोग) ऐसा कहते हैं कि प्रभुके चित्तकी व्यवस्था जान विश्राम न करने दिया, कथा कहने लगे जिससे चित्तको विश्राम मिले। (प्र० सं०) (ग) कथा दोपहरसे लेकर सूर्यास्ततक हुई, कोई बड़ी और बढ़िया कथा कहते रहे जिसमें किसीको उठनेकी इच्छा न हुई। जब मुनिने स्वयं आज्ञा दी तब संध्याकाल जानकर संध्या करने उठे। (प्र० सं०) बैजनाथजीका मत है कि दिनान्त पहर जानकर मुनि कथा कहने लगे, विश्राम न किया।

बिगत दिवसु मुनि आयसु पाई। संध्या करन चले दोउ भाई॥ ६॥
प्राची दिसि ससि उयेउ सुहावा। सियमुख सरिस देखि सुखु पावा॥ ७॥
बहुरि बिचारु कीन्ह मन माहीं। सीय बदन सम हिमकर नाहीं॥ ८॥

अर्थ—दिन बीत जानेपर मुनिकी आज्ञा पाकर दोनों भाई संध्या करने चले॥ ६॥ पूर्वदिशामें सुन्दर चन्द्रमा उदित हुआ। सीताजीके मुखके समान देखकर (श्रीरामजीने) सुख पाया॥ ७॥ फिर मनमें विचार किया (तो यह ठहराया) कि चन्द्रमा श्रीसीताजीके मुखके समान नहीं है॥ ८॥

टिप्पणी—१ (क) '*बिगत दिवसु*' से सूचित हुआ कि कथा दो पहर हुई, भोजन करके बैठे, कथामें संध्या हो गयी। इसी तरह कल संध्याके बैठे आधी राततक कथा हुई थी, यथा—'*रुचिर रजनि जुग जाम सिरानी।*' इससे यह भी दिखाया कि सब अत्यन्त आसनदृढ़ हैं। ['*बिगत दिवसु*' और '*निसिप्रबेस*' एक ही बात है। संध्या आते ही गुरुजीकी आज्ञा हो जाती है। अतः दोनों भाई चले। (वि० त्रि०)] (ख) '*मुनि आयसु पाई*' से कथामें प्रेम, दृढ़-आसन और कथाका बढ़िया होना सूचित किया, जिससे किसीको उठनेकी इच्छा न हुई, जब मुनिने स्वयं आज्ञा दी तब उठे। (ग) '*संध्या करन चले दोउ भाई*' इति। इससे जनाया कि बाहर जलाशयके निकट संध्या करने गये। यही विधि है। '**सायंसंध्या बहिर्जले**'। पुनः, '*चले दोउ भाई*' से यह भी जनाया कि जहाँ जाते हैं, दोनों भाई साथ जाते हैं, तीसरेका संग नहीं लेते; यथा—

'तेहि अवसर आए दोउ भाई। गए रहे देखन फुलवाई॥' 'समय जानि गुर आयसु पाई। लेन प्रसून चले दोउ भाई॥' तथा यहाँ।

प० प० प्र०—कल तो कहा था कि *'निसि प्रबेस मुनि आयसु दीन्हा।'* (२२६। १) और आज *'मुनि आयसु पाई'* कहा। इस भेदसे जनाया कि आज संध्यावन्दनके लिये जानेको पूछना पड़ा तब *'आयसु पाई।'* जबसे *'सुख सनेह सोभाकी खानी'* को चित्त-भीतिपर लिख लिया तबसे उसे देखनेका अवसर ही न मिला और यदि संध्यावन्दनके लिये आज्ञा न माँगते तो न जाने कितनी देर हो जाती। अत: एकान्त रम्य स्थानमें ही जायेंगे और उस शोभाखानिको निरख-निरखकर सुखी होंगे।

टिप्पणी—२ *'प्राची दिसि ससि उयेउ सुहावा'* से सूचित किया कि शरद्‌की पूर्णिमा थी। *'बिगत दिवसु'* अर्थात् सूर्यास्तपर संध्या करने चले और प्राची दिशिमें चन्द्रोदय हुआ। पूर्णिमाका चन्द्रमा संध्यामें उदय होता है। सीताजीके मुखकी उपमा दी, इससे भी निश्चय हुआ कि शरच्चन्द्र है और इससे *'सुहावा'* है। पुन: भाव कि सीताजीका मुख सुहावना है, चन्द्रमा उसका उपमान है, इससे चन्द्रमाको सुहावा कहा। [पुन: *'प्राची दिसि ससि उयेउ'* से जनाया कि पूर्वदिशामें संध्यावन्दन करने चले। इसीसे सामने ही चन्द्रमा देखनेमें आया। *'सुहावा'* और ऊपरके *'बिगत दिवसु'* से पूर्णचन्द्र जनाया, क्योंकि इधर *'बिगत दिवसु'* और उधर चन्द्रोदय दोनों साथ हुए। जैसे श्रीसीताजीके मुखको देखकर सुख पाया था, वैसे ही चन्द्रमासे सुख पाया। जैसे किशोरीजीकी शोभा देखकर हृदयमें सराहना की थी, वैसे ही यहाँ भी हृदयमें सराहना समझिये। पूर्व लक्ष्मणजीको सम्बोधन करके बातें की थीं, यथा—*'कहत लखन सन रामु हृदय गुनि।'* (२३०। १) पर वे कुछ न बोले थे, वैसे ही यहाँ भी जानिये। (प्र० सं०) बैजनाथजीका मत है कि उस दिन कुछ चतुर्दशीके उपरान्त आश्विनशुक्ला पूर्णिमा थी, इसीसे जब प्रभुने संध्या की उतनेहीमें चन्द्र उदित हुआ। प्र० स्वामीका मत है कि *'बिगत दिवसु'* से कथामें ही सूर्यास्तका हो जाना सिद्ध होता है। तत्पश्चात् नगरके बाहर जलाशयपर गये तब चन्द्रोदय हुआ। इससे पाया गया कि आज सायंकालमें कृष्ण प्रतिपदा पौर्णिमान्तमासगणनानुसार कार्तिक कृ० १ है। (पर चौपाईमें *'चले'* और *'सुहावा'* शब्दसे पं० रामकुमारजी और मयङ्ककारके मतका भी पोषण हो जाता है।) वि० त्रि० का भी मत है कि *'बिगत दिवसु'* और *'निसि प्रबेस'* एक ही बात है। पण्डितोंने एक मुहूर्त दिन रहते ही रात्रि बतलायी है। संध्या आते ही गुरुजीकी आज्ञा संध्याके लिये हो गयी।]

नोट—१ संध्याका समय क्या है यह जान लेनेसे भी चौपाईका यथार्थ भाव स्पष्ट हो जाता है। इसलिये संध्याके विषयमें प्रामाणिक श्लोक यहाँ उद्धृत किये जाते हैं। 'संध्याका समय क्या है, कब करनी चाहिये और क्यों करनी चाहिये और न करनेका परिणाम क्या है' ये सब स्पष्ट हो जायेंगे। प्रस्तुत प्रसंग सायंसंध्याका है, अत: प्रथम उसीका श्लोक देते हैं।—**'उत्तमा सूर्यसहिता मध्यमा लुप्तभास्करा। अधमा तारकोपेता सायंसंध्या त्रिधा मता। अध्यर्धयामादासायंसंध्या मध्याह्निकीष्यते॥'** (धर्मसिंधु संध्याकाल-प्रकरण) इसमें बताया गया है कि उत्तम सायं-संध्या वह है जो कुछ सूर्य रहते ही की जाय। (सूर्यास्तके पूर्व तीन घड़ीतक उत्तम माना जाता है) सूर्यरहित संध्या मध्यम है और तारागण निकलनेपर जो की जाती है वह अधम संध्या है। यह निश्चय है कि ब्रह्मर्षि उत्तम ही संध्या करते-कराते होंगे। अत: जब दोनों भाइयोंने संध्या की उस समय सूर्य थे। प्र० स्वामीका मत है कि हरिकथा या गुरुसेवाके कारण यदि कनिष्ठ कालमें ही संध्या करनी पड़े तो भी वह दोष नहीं माना जायगा।

नारायण विट्ठल वैद्यकृत आह्निकसूत्रावली षष्ठ संस्करणमें प्रात:संध्याके सम्बन्धके श्लोक ये हैं—(१) **'अहोरात्रस्य यः सन्धिः सूर्यनक्षत्रवर्जितः। सा तु संध्या समाख्याता मुनिभिस्तत्त्वदर्शिभिः॥'** (नागदेव) (२) **'उत्तमा तारकोपेता मध्यमा लुप्ततारका। अधमा सूर्यसहिता प्रात:संध्या त्रिधा मता॥'** (धर्मसार) (३) **'निशायां वा दिवा वापि यदज्ञानकृतं भवेत्। त्रिकालसंध्याकरणात्तत्सर्वं हि प्रणश्यति॥'** (अत्रि) (४) **'संध्याहीनोऽशुचिर्नित्यमनर्हः सर्वकर्मसु। यदन्यत्कुरुते कर्म न तस्य फलभाग् भवेत्॥'** (मरीचि) भावार्थ यह है—सूर्य और नक्षत्ररहित

दिन और रात्रिकी सन्धि संध्याकाल है। तारागण रहते हुए जो संध्या की जाय वह उत्तमा है। तारागणके लुप्त होनेपर की जानेवाली संध्या मध्यमा और सूर्योदयपर की हुई अधमा है। त्रिकाल-संध्या करनेसे अज्ञानसे किये हुए समस्त पापोंका नाश होता है। संध्या न करनेसे मनुष्यके दिन-रातमें किये हुए सब कर्म निष्फल हो जाते हैं।

श्रीरामजीकी दिनचर्यामें प्रात:संध्याका उल्लेख भी है। वे ब्राह्ममुहूर्तमें उठकर शौचादिसे निवृत्त होकर उत्तम प्रात:संध्या करते हैं। नित्य क्रियामें संध्या भी है।

नोट—२ टिप्पणी २ में पूर्व दिशामें संध्यावन्दन करने जाना जो कहा गया है वह *'बिगत दिवसु चले'* के सम्बन्धमें कहा गया। पूर्वकी ओर चले तो सुहावना (पूर्ण) चन्द्र उदित हुआ देख पड़ा। मार्गमें ही जाते देखा। यदि जलाशयपर जानेपर चन्द्रोदय देखा जो प० प० प्र० का मत है तो पूर्व दिशामें गये हों अथवा किसी और दिशामें गये हों इसका कोई प्रयोजन नहीं रह जाता। क्योंकि 'संध्या करते समय आचमन, प्राणायाम और गायत्रीजप भी पूर्व ओर मुख करके ही करना पड़ता है, उस समय चन्द्रदर्शन चतुर्दशी, पूर्णिमा, प्रतिपदा' (कृ०) को स्वाभाविक ही होगा। यद्यपि संध्यामें कब किस दिशामें मुख करके वन्दन किया जाता है इसके लिखनेकी आवश्यकता नहीं, फिर भी इस विचारसे कि कोई उसे जानकर और भाव निकालें, हम उसे यहाँ लिखे देते हैं। 'सायंसंध्याकर्मके समय प्रथम पूर्वाभिमुख होकर आचमन-प्राणायाम-मार्जनादि होता है, पश्चात् पश्चिमाभिमुख अर्घ्य प्रदान होता है और फिर आचमन करनेको पूर्वाभिमुख होना पड़ता है। जपकी समाप्तिपर पुनः पश्चिमाभिमुख होकर दस दिक्पालोंका वन्दन प्रारम्भ होता है और प्रदक्षिणा पूरी करनेके समय फिर घूमकर पूर्वाभिमुख होकर संध्याकी समाप्तिपर आचमन-प्राणायाम करना पड़ता है।

टिप्पणी—३ *'सियमुख सरिस'*'''' इति। (क) यहाँ 'प्रथम प्रतीपालंकार' है और चन्द्रमाको देखकर सीताजीके मुखकी स्मृति हुई इससे 'स्मृति अलंकार' भी है। (ख) *'सुखु पावा'* का भाव कि जानकीजीका मुख देखकर सुख पाया था, यथा—*'अस कहि फिरि चितए तेहि ओरा। सिय मुख ससि भए नयन चकोरा॥ देखि सीय सोभा सुख पावा।'* चन्द्रमा सियमुखसरिस है, इसीसे चन्द्रमाको देखकर सुख पाया। (ग)—*'बहुरि बिचारु कीन्ह मन माहीं।'''''* इसीसे सूचित किया कि चन्द्रमाकी सुन्दरता देखनेमें सीताजीके मुखके सदृश है; पर गुण-अवगुण विचार करनेपर सदृश नहीं है। (एकाएक तो चन्द्र उनके मुखके समान ही प्रतीत हुआ पर विचार करनेपर राय पलट गयी। वि० त्रि०) यहाँ उपमेय *'सियमुख'* द्वारा उपमान चन्द्रमाका निरादर होनेसे 'तृतीय प्रतीपालङ्कार' है। विचारसे यह निश्चय हुआ कि वह सीतामुखके सदृश नहीं है, इसका हेतु आगे कहते हैं।

मानसमयङ्ककार लिखते हैं कि 'जब श्रीरामचन्द्रजी संध्या करने चले तभी चन्द्रमाको उगा हुआ देखा, इससे यह सूचित होता है कि उस दिन आमंद पूर्णिमा थी और रामचन्द्रजी जानकीजीके स्मरणमें ऐसे फँसे थे कि न तो संध्या कर सके, न गुरुसेवा ही हो सकी और न नींद ही पड़ी। क्योंकि मूलमें लिखा है कि *'संध्या करन चले'*; यह नहीं लिखते कि संध्यावन्दन किया।—[अयोध्याकाण्डमें भी ऐसा ही प्रयोग है। यथा—*'पुरजन करि जोहारु घर आए। रघुबर संध्या करन सिधाए॥'* (२। ८९) वहाँ भी *'करन सिधाए'* कहकर फिर उसका करना नहीं लिखा है। इसी तरह यहाँ भी लगा सकते हैं कि संध्या की। मर्यादापुरुषोत्तम मर्यादाका पालन नहीं छोड़ेंगे। इसी तरह गुरुसेवा एक दिन कह दी गयी—*'गुर पद कमल पलोटत प्रीते॥'* (२२६। ५) वैसे ही नित्य करते हैं, यह बात पूर्व लिखी गयी है। पर शृङ्गाररसमें वह भाव कहा जा सकता है। त्रिपाठीजीका मत है कि आज चतुर्दशी वा पूर्णमासी है, सायंसंध्या होते-होते चन्द्रोदय हो गया; देखा कि सीताजीके मुखके समान प्रकाशकत्व और आह्लादकत्व है, इससे सुख मिला।]—पूर्व गुरुकी सेवा करके सोया करते थे, आज केवल प्रणाम किया, यथा—*'करि मुनि चरन सरोज प्रनामा।'* पहले शयन पद दिया गया, यथा—*'रघुबर जाइ सयन तब कीन्हा'* और यहाँ *'आयसु पाइ कीन्ह बिश्रामा।'* अर्थात् विश्राम किया, नींद नहीं पड़ी। नींदसे सोते तो 'शयन' लिखते (पं० रामकुमारजीका मत २३८। ५ में देखिये।)

श्रीजानकीशरणजी (स्नेहलता) कहते हैं कि 'इतनी विह्वलता है कि संध्यामें दक्षिण (पश्चिम) मुख रहना चाहिये सो आज पूर्व दिशाकी ओर मुख कर बैठे।' [पूर्व दिशाकी ओर मुख करके बैठे और संध्या की, यह कथन संध्या-विधिके ज्ञानका अभाव ही प्रदर्शित करता है। प० प० प्र०]

श्रीबैजनाथजी लिखते हैं कि 'वियोगके कारण दुःख था, इसीसे सीताजीके मुख-सरिस देख सुख हुआ। सुख पानेमें 'स्मरण अलङ्कार' है, समता-गुणमात्रसे सुखदायी हुआ; यथार्थतः वियोगियोंको दुःखद होता है। *'हिमकर'* अर्थात् अत्यन्त शीत करनेवाला है, पाला डालता है। हिमकर प्रथम सुखद हुआ तब श्रीकिशोरीजीके मुखके समान कहकर उसमें अनेक गुण सूचित किये पर जब वह विरहवर्धक हुआ तब निन्दा की, अवगुण कहकर गुणोंका लोप कर दिया।'

श्रीराजारामशरण लमगोड़ाजी—१ 'स, म, प, च' इत्यादि रसास्वादनके अक्षर विचारणीय हैं, यहाँ भी और प्रसंगभरमें। २—*'उयेउ'*। फुलवारी ही बसी है, मानो चन्द्रमा भी उसीमें 'उगा' है और आगे *'उयेउ अरुन'* भी। ३—देखिये, सारी उपमाएँ कवियोंकी जुठारी समझ तथा *'प्राकृत नारि अंग अनुरागीं'* जान रामका हृदय पहले ही त्याग चुका है। चन्द्रमापर तनिक रुका और कुछ सुख पाया। पर ***'एकसे जब दो हुए तब लुत्फे यकताई नहीं'*** के अनुसार प्रेम चन्द्रमामें दोषोंकी वह तालिका निकाल देता है कि जिसकी सीमा नहीं। पहले नाम ही *'हिमकर'* दिया जो प्रेमकी उमंगको ठिठुरा देता है।—पहले भी संकेत हो चुका है।

दो०—जनमु सिंधु पुनि बंधु बिषु दिन मलीन सकलंकु।
सिय-मुख समता पाव किमि चंदु बापुरो रंकु॥ २३७॥

अर्थ—समुद्रमें तो उसका जन्म, फिर विष उसका भाई है, दिनमें प्रकाशहीन रहता है और कलंकी है। बेचारा दरिद्र चन्द्रमा श्रीसीताजीके मुखकी समता कैसे पा सकता है? ॥ २३७॥

टिप्पणी—१ (क) सिंधु जड़ है, यथा—*'गगन समीर अनल जल धरनी। इन्ह कै नाथ सहज जड़ करनी॥'* जड़से चन्द्रमा उत्पन्न हुआ, इस कथनका तात्पर्य यह है कि कारणका गुण कार्यमें आ जाता है। अथवा, चन्द्रमा इस समुद्रसे उत्पन्न हुआ है, इससे सीताजीके मुखकी उपमा नहीं हो सकता। जब ऐसा उत्पन्न हो कि जैसा आगे कविने कहा है—*'जौं छबिसुधा पयोनिधि होई। परम रूपमय कच्छप सोई॥ सोभा रजु मंदर सिंगारू। मथै पानिपंकज निज मारू॥ एहि बिधि उपजै 'चंद' जब सुंदरता सुखमूल। तदपि सकोच समेत कबि कहहिं 'सीयमुख' तूल॥'* [सिंधु खारा है, यह भी दोष है (पां०)] (ख)—*'बंधु बिषु'*, यथा—*'बिष बारुनी बंधु प्रिय जेही। कहिय रमा सम किमि बैदेही॥'* (ग) ☞ गुण और अवगुण चार जगहसे देखे जाते हैं—कुल, संग, शरीर और स्वभावसे। यहाँ चन्द्रमाके ये चारों दिखाते हैं—*'जनम सिंधु'* यह कुल है, *'बंधु बिषु'* यह संग है, *'दिन मलीन सकलंकु घटै बढ़ै'* यह शरीर है और *'बिरहिनि दुखदाई', 'कोक सोकप्रद पंकज द्रोही'* यह स्वभाव है। चारों प्रकारसे दूषित है। (घ)—*'बापुरो'* का भाव कि शोभासे रंक है, न कुलसे शोभा पावे न संगसे, न शरीरसे और न स्वभावसे ही। सब प्रकार हीन है।

नोट—१ चार प्रकारकी योग्यतासे उत्तमता और अयोग्यतासे अधमता मानी जाती है। कालकूट भी सिंधुसे निकला था और चन्द्रमा भी; इस तरह दोनों भाई-भाई हैं। गुरुद्रोह, गुरुपत्नीगमन इत्यादि कलंक हैं। शरीर क्षयीरोगग्रस्त है। चन्द्रमाका पिता जड़ और डुबानेवाला है, श्रीजानकीजीके पिता श्रीजनकजी हैं जो स्वयं ज्ञानी हैं और दूसरोंको तार देनेवाले हैं। चन्द्रमाका बन्धु विष है जो मारनेवाला है, जानकीजीके बन्धु गुण-शील-रूपनिधान-लक्ष्मीनिधिजी हैं। चन्द्रमा दिनमें प्रकाशरहित, जानकीजी दिन-रात एकरस प्रकाशयुक्त। *'बापुरो रंकु'* कहनेका भाव कि अन्य ग्रहोंकी अपेक्षा इसका साहबी थोड़ी ही अर्थात् सवा दो दिनकी ही है। चन्द्रमाको प्रकाश सूर्यसे मिलता है, रात्रिमें ही उसका प्रकाश रहता है और सीताजीका

प्रकाश तो दिनमें भी रहता है, यथा—'*करत प्रकास फिरहि फुलवाई।*' (२३१। २) चन्द्रमा कलंकित है, श्रीजानकीजी सदा निष्कलंक हैं; यथा—'*उमा रमा ब्रह्मादि बंदिता। जगदंबा संततमनिंदिता॥*' (७। २४) उनकी कीर्त्ति पवित्र है, यथा—'*जिति सुरसरि कीरति सरि तोरी। गवन कीन्ह बिधि अंड करोरी॥*' (२। २८७) बैजनाथजीका मत है कि अमावस्याको एक ही कला रहती है और वह भी सूर्यमें लुप्त हो जाती है। श्रीकिशोरीजीका मुख सदा एकरस शोभित रहता है [चन्द्रमाको गुरुतल्पगामी होनेका कलंक है, यथा—'***ससि गुर-तिय-गामी*** ……।' (२। २२८)]

—पुष्पवाटिका-प्रसंगमें श्रीराम-जानकीजी दोनों पक्षोंका मिलान—

श्रीरामजी	श्रीसीताजी
सकल सौच करि जाइ नहाए	*मज्जन करि सर सखिन्ह समेता*
नित्य निबाहि मुनिहि सिरु नाए	*गई गौरि निकेता*
समय जानि	*तेहि अवसर सीता तहँ आई*
गुरु आयसु पाई	*जननि पठाई*
लेन प्रसून चले	*गिरिजापूजन आई*
दोउ भाई (यहाँ भाई साथमें)	*संग सखी सब सुभग सयानी* (यहाँ सखियाँ साथमें)
लगे लेन दल फूल मुदित मन	*गई मुदित मन गौरि निकेता*
अस कहि फिरि चितये तेहि ओरा	*लता ओट तब सखिन्ह लखाए*
सियमुख ससि भये नयन चकोरा	*सरद ससिहि जनु चितव चकोरी*
भये बिलोचन चारु अचंचल	*थके नयन रघुपति छबि देखे*
मनहु सकुचि निमि तजेउ दृगंचल	*पलकन्हिहू परिहरी निमेषें*
देखि सीय सोभा सुख पावा	*देखि रूप लोचन ललचाने*
हृदय सराहत बचन न आवा	*अधिक सनेहु देह भै भोरी*
सिय शोभा हिय बरनि प्रभु	*लोचन मग रामहि उर आनी*
आपनि दसा बिचारि	*दीन्हे पलक-कपाट सयानी*
सहज पुनीत मोर मन छोभा	*सुमिरि पितापन मन अति छोभा*
फरकहिं सुभद अंग सुनु भ्राता	*मंजुल मंगलमूल बाम अंग फरकन लगे*
चारु चित्त भीती लिखि लीन्ही	*चली राखि उर स्यामल मूरति*
गुरु समीप गवने दोउ भाई	*गई भवानी भवन बहोरी*
राम कहा सब कौसिक पाहीं	*मोर मनोरथ जानहु नीके*
सुमन पाइ मुनि पूजा कीन्ही	*बिनय प्रेमबस भई भवानी*
पुनि असीस दुहु भाइन्ह दीन्ही	*सुनु सिय सत्य असीस हमारी*
सफल मनोरथ होंहु तुम्हारे	*पूजिहि मन कामना तुम्हारी*
रामलखन सुनि भए सुखारे	*सिय हिय हरष न जाइ कहि*

घटै बढ़ै बिरहिनि दुखदाई। ग्रसै राहु निज संधिहि पाई॥ १॥
कोक सोकप्रद पंकजद्रोही। अवगुन बहुत चंद्रमा तोही॥ २॥

शब्दार्थ—सन्धि=अवकाश, अवसर। पूर्णिमा और प्रतिपदाकी सन्धि (मेल वा बीच) में।

अर्थ—घटता-बढ़ता है, वियोगिनी-विरहिणीको दुःख देनेवाला है। राहु अपनी सन्धिमें पाकर ग्रस लेता है॥ १॥ कोक (चक्रवाक) को शोक देनेवाला और कमलका शत्रु है। हे चन्द्रमा! तुझमें बहुत अवगुण हैं॥ २॥

श्रीराजारामशरणजी—१ निर्जीवको सजीव तो सभी कवि बाँधते हैं, परंतु भावका वह चढ़ाव दिखा देना जिससे वह स्वाभाविक बन जाय, तुलसीदासजीकी विशेषता है। प्रेममें यह जान पड़ता है कि मानो चन्द्रमा सीताजीके मुखकी बराबरी करनेके हेतु विशेष तैयारीसे निकला हुआ (है), रामका प्रेमिक हृदय (ऐसा) समझ रहा है। इसीसे तो दोषोंकी धारा बाँध दी और अन्तमें चन्द्रमाको सम्बोधन करके *'अवगुन बहुत चंद्रमा तोही'* कह ही दिया। २—चन्द्रमापर भी उपमाके सम्बन्धसे कविताको नाज था। और कितनी ही नायिकाओंको उससे उपमा दी गयी, किंतु तुलसीदासजी उससे उपमा देना तो अलग रहा, उसको भी सियमुखसरिस कहना ठीक नहीं समझते और कितने ही दोष गिना देते हैं। ३—स्मरण रहे कि प्रेम बराबर पक रहा है, संध्यामें भी प्रेमिकाकी ही याद (वियोगमें स्मरणानन्द) है।

टिप्पणी—१ (क) यहाँ दोष दिखानेका प्रकरण है। घटना दोष है, इसीसे पहले **'घटै'** कहा, तब **'बढ़ै'**। घटता-बढ़ता हैं अर्थात् एकरस शोभा नहीं रहती, सदा विषमावस्था बनी रहती है। *'बिरहिनि दुखदाई'* है अर्थात् सबको एकरस सुखदाता नहीं है। किसीको सुख देता है तो किसीको दु:ख देता है। सब तिथियोंमें घटता-बढ़ता है। एक पूर्णिमाहीको पूर्ण होता है तहाँ उसमें यह दोष है कि अपनी सन्धि पाकर अर्थात् पूर्णिमा-प्रतिपदाके बीचमें उसे राहु ग्रस लेता है। इस तरह बढ़ना भी दोष हुआ। *'निज संधिहि'* का भाव कि और शत्रुओंकी सन्धि और है, राहुकी सन्धि पूर्णिमा-प्रतिपदाका बीच है। इससे जनाया कि वह राहुका उच्छिष्ट है। (ख)—पुनः, प्रथम **'घटै'** कहा, क्योंकि पहले कृष्णपक्ष है पीछे शुक्ल। किसीके मतसे पहले शुक्ल है तब कृष्णपक्ष है—यह मत गोस्वामीजी प्रथम ही *'सम प्रकास तम पाख दुहु नाम भेद बिधि कीन्ह। ससि पोषक सोषक समुझि जग जस अपजस दीन्ह॥'* दोहा ७ में कह आये। (१६६१ में *'सोषक पोषक'* पाठ है।) (ग)—*'कोक सोकप्रद पंकज द्रोही।'* इति। जीवोंके रहनेके तीन स्थल हैं, जल-थल और नभ, तथा—*'जलचर थलचर नभचर नाना। जे जड़ चेतन जीव जहाना॥'* (१। ३-४) यहाँ दिखाते हैं कि चन्द्रमा तीनों स्थलोंके निवासियोंको दु:ख देता है। *'बिरहिनि दुखदाई'* से थलचरोंको दु:ख देना कहा। *'कोक सोकप्रद'* से नभचरोंको दु:खदायक कहा और *'पंकजद्रोही'* से जलचरोंको दु:खदायी कहा। एक-एक स्थलका एक-एक उदाहरण दिया। पुनः, (घ)—विरहिनिको दु:खदायी और कोकको शोकप्रद कहनेका तात्पर्य यह है कि वियोगियोंको दु:ख देता है ही और संयोगियोंको भी वियोगी बनाकर दु:ख देता है। विरही और कोक चेतन हैं, पंकज (कमल) जड़ है। इस तरह पंकजद्रोही भी कहकर जड़-चेतन सभीको दु:खदाता बताया। (ङ)—तीनोंको दु:खदायी इस प्रकार है कि *'बिरहिनि'* को अग्निरूप होकर और पंकजको हिम (पाला) रूप होकर जलाता है; यथा—*'पावक मय ससि स्रवत न आगी। मानहु मोहि जानि हतभागी॥'* (५। १२) *'मानहुँ तुहिन बनजबनु मारा।'* (२। १५९) *'बिश्व सुखद खल कमल तुषारू।'* (१६। ५) कोक-कोकी दिनभर साथ रहते हैं, रात्रिमें उनका वियोग होता है, शशिकिरणके स्पर्शसे वह व्याकुल हो जाता है, यथा—*'ससिकर छुअत बिकल जिमि कोकू।'* (२। २९। ४) किसीको अग्निरूप, किसीको पालारूप, इसीसे *'हिमकर'* कहा। पुनः, कोक और पंकजका उदाहरण देकर जनाया कि रात-दिन वैर करता है। [पुनः पक्षीने किसीका क्या बिगाड़ा है, सो यह कोकको शोक देता है। कमल संसारको प्रिय है, पर यह उससे भी द्रोह करता है। (वि० त्रि०)] (च)—जो सब प्रकारसे हीन हो वह 'बापुरा' कहलाता है, इसीसे सब प्रकारसे हीनता दिखायी। (छ) *'अवगुन बहुत'* अर्थात् थोड़े भी अवगुण होते तो भी जानकीजीके मुखकी उपमा नहीं दे सकते और तुझमें तो अगणित दोष हैं, तेरी उपमा देनेसे दोष लगेगा।

नोट—१ भूषण बारह हैं। इसीसे बारह दोष चन्द्रमामें दिखाकर उसके विरुद्ध श्रीकिशोरीजीमें भूषण दरसाते हैं। ऊपर दोहेमें छः दोष दिखाये गये और उसके विरुद्ध श्रीजानकीजीमें छः भूषण दिखाये। दोहा २३७ में देखिये। चन्द्रमा घटता है, बढ़ता है, दो दोष ये हैं। श्रीविदेहनन्दिनी सदा समान, उनकी शोभा एकरस है। वह कितनोंहीको दु:खदायी है और ये सबको सुखद; यथा—**'क्लेशहारिणीं सर्वश्रेयस्करीं सीतां नतोऽहं रामवल्लभाम्।'**(मं० श्लोक ५) देवता इनके कृपा-कटाक्षकी चाह करते हैं। उसे राहु ग्रसता है और

ये सदा अभय हैं, क्योंकि जगज्जननी हैं, सबका उद्भव-स्थिति-संहार करनेवाली हैं। वह विरहीको तथा कोकको शोक देता और कमलको जला डालता है, ये सबको सुख देती हैं और सबसे निर्वैर हैं और दीन-क्षीण तो इनको परम प्रिय हैं, यथा—*'बंदौं सीतारामपद जिन्हहिं परम प्रिय खिन्न।'* इतने दोष दिखाकर तब कहते हैं कि *'अवगुन बहुत'* अर्थात् कहाँतक गिनाये जायँ, इतने ही नहीं हैं किन्तु अगणित हैं। इस प्रकार उसको अवगुणनिधि जनाया और ये तो गुणखानि हैं जैसा पूर्व कह आये हैं—*'सुख सनेह सोभा गुन खानी।'* (२३५। २) पाँड़ेजी लिखते हैं कि *'कोक सोकप्रद'* यह अपने ऊपर कहते हैं।

नोट—२ चन्द्रमाके घटने-बढ़नेके सम्बन्धमें एक पौराणिक कथा है। दक्षप्रजापतिकी कन्याओंमेंसे सत्ताईसका विवाह चन्द्रमाके साथ हुआ। उन सबकी 'नक्षत्र' संज्ञा थी। चन्द्रमाके साथ जो नक्षत्रोंका योग होता है, उसकी गणनाके लिये वे सत्ताईस रूपोंमें प्रकट हुई थीं। इनमेंसे रोहिणी सबसे अधिक सुन्दर थी। इससे रोहिणीके संसर्गमें चन्द्रमा अधिक रहा करते थे। अन्य नक्षत्रनामवाली स्त्रियोंने इस बातकी शिकायत दक्षसे की। दक्षने चन्द्रमाको बुलाकर उन्हें सब स्त्रियोंके साथ समान व्यवहार करनेकी आज्ञा दी। परंतु उनका प्रेम रोहिणीके प्रति अधिकाधिक बढ़ता गया। तब शेष बहिनोंने पुनः पितासे शिकायत की। दक्षने पुनः चन्द्रमाको बुलाया और कहा कि 'तुम सब स्त्रियोंके साथ समान बर्ताव करो, नहीं तो मैं शाप दे दूँगा।' परंतु उसने आज्ञाका पालन फिर भी न किया, तब दक्षने क्रोधमें आकर यक्ष्माकी सृष्टि की। यक्ष्मा चन्द्रमाके शरीरमें प्रविष्ट हुआ। इस रोगसे चन्द्रमाकी प्रभा नष्ट हो गयी, जिससे अन्नादि ओषधियोंका उपजना ही बन्द-सा हो गया और जो उपजतीं भी तो न स्वाद होता, न रस और न शक्ति ही। सारी प्रजाका नाश होने लगा। तब देवताओंने चन्द्रमासे क्षीण होनेका कारण पूछा। चन्द्रमाने उन्हें अपनेको शाप मिलनेका कारण और उस शापके रूपमें यक्ष्माकी बीमारी होनेका हाल बताया। देवताओंने आकर दक्षसे प्रार्थना की कि शाप निवृत्त किया जाय, नहीं तो ओषधियाँ और उनके बीज नष्ट हो जायेंगे, जिससे हमारा भी नाश हो जायगा और हमारे नाशसे संसारका नाश होगा। दक्षने कहा कि 'यदि चन्द्रमा अपने सब स्त्रियोंके साथ समान बर्ताव करे तो सरस्वतीके उत्तम तीर्थमें स्नान करनेसे ये पुनः पुष्ट हो जायँगे। फिर ये पंद्रह दिनोंतक बराबर क्षीण होते जायँगे और पंद्रह दिनोंतक बढ़ते रहेंगे। पश्चिम समुद्रके तटपर जहाँ सरस्वती-सागर-संगम है जाकर ये भगवान् शङ्करकी आराधना करें, इससे इन्हें इनकी खोयी हुई कान्ति मिल जायगी। सोमने अमावस्याको प्रभासक्षेत्रमें स्नान किया। (महाभारत शल्यपर्व वैशम्पायन-जनमेजय-संवाद) [कृष्णपक्षमें देवता चन्द्रमाकी कलाओंका पान करते हैं, इसलिये वह घटता है। (वि० त्रि०)]

बैदेही मुख पटतर दीन्हें। होइ दोष बड़ अनुचित कीन्हें॥ ३॥
सियमुख छबि बिधु ब्याज बखानी। गुर पहिं चले निसा बड़ि जानी॥ ४॥

अर्थ—श्रीविदेहनन्दिनी जानकीजीके मुखकी समता (उपमा) देनेसे बड़ा अनुचित कर्म करनेका बड़ा दोष लगेगा॥ ३॥ चन्द्रमाके बहाने श्रीसीताजीके मुखकी शोभाका वर्णन कर और रात बहुत गयी (बीती) जान, गुरुके पास चले॥ ४॥

टिप्पणी—१ (क) *'बैदेही मुख पटतर दीन्हें।—'* ऐसा कहकर कवियोंको मना करते हैं कि कोई भी कवि जानकीजीके मुखके लिये चन्द्रमाकी उपमा न दे और चन्द्रमाको मना करते हैं कि तू उनके मुखकी समताकी इच्छा कभी न करना, नहीं तो मुझे बड़ा दोष लगेगा, इसीसे साक्षात् चन्द्रमाको सम्बोधन कर उसीसे कहते हैं। पूर्व *'अवगुन बहुत चंद्रमा तोही'* कहा था। उसीके सम्बन्धसे *'बड़ दोष'* कहा। पुनः भाव कि जानकीजीका मुख निर्दोष है और चन्द्रमामें बहुत दोष हैं। निर्दोषके लिये दोषीकी उपमा दें तो बड़ा दोष है ही। (ख) प्रथम मनमें विचार करना कह आये हैं; यथा—*'बहुरि बिचारु कीन्ह मन माहीं'* और यहाँ कहते हैं *'सियमुख छबि बिधु ब्याज बखानी'*, 'बखानना' वचनसे होता है। इससे जनाया

कि सारा विचार और बखान मनहीका है, मनहीमें छबिको वर्णन करते रहे। वर्णन मन-ही-मन भी होता है; यथा—'*राम सुभाय चले गुर पाहीं। सिय सनेह बरनत मन माहीं॥*' (ग) सियमुखके सामने चन्द्रमाका हलकापन किसीने यों कहा है—'*सिय तेरे मुखचंदुको बिधि तौल्यो धरि सोम। तारे सब अहड़े परे तऊ गयो बिधु ब्योम॥*' (घ) श्रीसीताजीके मुख-छबिको मनमें वर्णन करके गुरुके पास चले। यहाँ संध्या करना नहीं लिखा। '*बिगत दिवसु गुर आयसु पाई। संध्या करन चले दोउ भाई॥*' से निश्चय हुआ कि संध्या करने चले थे तो संध्या भी अवश्य की, नहीं तो यह न लिखते। ऐसा ही अयोध्याकाण्डमें लिखते हैं—'*पुरजन करि जोहार घर आए। रघुबर संध्या करन सिधाए॥*' वहाँ भी संध्या करने चले। यह लिखा, पर संध्या करना नहीं लिखा। '*संध्या करन सिधाए*' से ही निश्चय हो गया कि संध्या की। (मानस-मयंककारका मत है कि रामजीका मन इतना जानकीजीमें फँस गया था कि संध्या करना भूल गये। और किसीका मत है कि भक्तका स्मरण भी संध्या ही है। भगवान् अपने भक्तोंका स्मरण-ध्यान किया करते हैं, वही यहाँ किया। पं० रामकुमारजीका मत है कि संध्या कर चुकनेपर चन्द्रमाके व्याजसे श्रीसीताजीके मुख-छबिका मनमें वर्णन करने लगे।) (ङ) '*निसा बड़ि जानी*' इति। तात्पर्य कि देर हो गयी यह जानकर गुरुका भय माना, यथा—'*कौतुक देखि चले गुर पाहीं। जानि बिलंब त्रास मन माहीं॥*'

पाँड़ेजी—'छबिका वर्णन करके गुरुके पास गये। भाव कि रघुनाथजी छबि देखकर उन्मत्त हो गये थे। जब कोई वस्तु नशा करती है तो वमन किये बिना सावधानी नहीं होती। अतः चन्द्रमाके बहाने इस जगह छबिका वर्णन कर सावधान हो गये कि बड़ी रात हो गयी। तब गुरुके पास गये। अथवा '*निसा बड़ि*' अर्थात् बहुत बड़ी हो गयी, काटे नहीं कटती, न जाने कब सबेरा होगा। सखीके '*पुनि आउब येहि बेरिआँ काली*' को सोचते हैं कि यह रात पहाड़सम बीचमें आ पड़ी है, अतः गुरुके पास चले कि वे ब्रह्मा बन रातका दिन कर देंगे। वा, गुरु सूर्यरूप हैं, अतः उनके पास चले कि सूर्य जल्दी प्रकट हों।' (और भी ऐसे ही भाव लिखे हैं। ये शृङ्गारियोंके भाव हैं।)

बैजनाथजी—संध्या चार दण्डतक चाहिये और यहाँ आठ दण्ड बीत गये, इसीसे निशा '*बड़ि जानी*' कहा। (पं० रामकुमारजीका मत है कि दो पहर रात्रि बीत गयी।)

रा० प्र० कार '*बिधु ब्याज*' का एक भाव यह कहते हैं कि सियमुखछबि मूल है और चन्द्रमा उसके व्याज अर्थात् सूदके समान है।

करि मुनि चरन सरोज प्रनामा। आयसु पाइ कीन्ह बिश्रामा॥ ५॥

अर्थ—मुनिके चरणकमलोंमें प्रणाम कर, आज्ञा पा, विश्राम किया॥ ५॥

टिप्पणी—१ (क) पूर्व कहा था कि '*गुर पहिं चले निसा बड़ि जानी।*' बड़ी रात गये लौटे यह कहकर यहाँ उसका प्रमाण दिखाते हैं कि दो पहर रात बीत गयी थी, क्योंकि आते ही विश्राम किया। श्रीरामजीकी रात्रिचर्यामें दिखा आये हैं कि दो पहर रात बीतनेपर विश्राम करते हैं; यथा—'*कहत कथा इतिहास पुरानी। रुचिर रजनि जुग जाम सिरानी॥ बार बार मुनि अज्ञा दीन्ही। रघुबर जाइ सयन तब कीन्ही॥*' (२२६। ६) (ख) अर्कबिम्बसे लेके तीन दण्ड रात्रि बीतनेतक संध्या कहलाती है, यथा—'**संध्या त्रिनाडी प्रमितार्कविम्बात्।**' इसीसे ज्ञात हुआ कि समयपर संध्या की। संध्या कर चुकनेपर सीताजीके मुखकी छबि मनमें वर्णन करने लगे, इससे दो पहर समय शीघ्र ही बीत गया, कुछ जान न पड़ा। सुखमें समय बीतते कुछ जान ही नहीं पड़ता, यथा—'*मास दिवसकर दिवस भा मरम न जानै कोइ*', '*ब्रह्मानंद मगन कपि सबके प्रभुपद प्रीति। जात न जाने दिवस तिन्ह गये मास षट बीति॥*' (ग) '*आयसु पाइ कीन्ह बिश्रामा*'—भाव कि रामजीने चरणसेवा करनी चाही, इसीसे मुनिने बहुत रात गयी जानकर आते ही शयनकी आज्ञा दी। विश्राम शयनहीका अर्थ यहाँ दे रहा है, इसीसे यहाँ '*कीन्ह बिश्रामा*' कहकर आगे '*बिगत निसा रघुनायक जागे।*' कहते हैं, जागना सोनेपर ही होता है। (त्रिपाठीजी लिखते हैं कि न तो मुनिके चरण-कमलोंका पलोटना कहा गया और न श्रीरामजीके चरणोंका; क्योंकि आज

उसकी आवश्यकता नहीं, आज किसीको कहीं दूर जाना नहीं पड़ा, कल तो रास्ता चलकर आये थे, अतः कल पैर दबानेकी आवश्यकता थी।)

नोट—१ पुष्पवाटिका-प्रकरणमें शृङ्गार रस प्रधान है। गोस्वामीजीने श्रीरामजी और श्रीजानकीजी दोनोंका प्रसङ्ग एक-सा लिखा है। २३७ वें दोहेमें मिलान लिखा जा चुका है। गीतावलीके *'हरषीं सहेली भयो भावतो गावती गीत गवनी भवन तुलसी प्रभुको हियो हरि कै'*, इस उद्धरणके आधारपर श्रीजानकीजीकी विजयका इसे लक्ष्य मानकर रसिक महानुभावोंका कहना है कि *'मानहुँ मदन दुंदुभी दीन्ही। मनसा बिस्व बिजय कहँ कीन्ही॥'* यहाँसे शृङ्गार-युद्ध-प्रकरण प्रारम्भ हुआ और उसमें श्रीरामजी हारे। नीचे वह युद्ध-रहस्य रसिक-समाजके लिये लिखा जाता है। इसके विषयमें श्रीलमगोड़ाजीका कहना है कि 'इस दृष्टिकोणपर अधिक जोर न देना चाहिये, नहीं तो' *'जाने आलम और रोशन आरा'* वाला शृङ्गार आ जायगा, तो तुलसीदासजीको अभीष्ट नहीं है। उनके शृङ्गारमें 'अमिय' या 'मधु' है, पर 'हालाहल' (जहर इश्क़) नहीं।' इसी विचारसे प्रकरणके आदिमें और यहाँ भी लिख दिया गया कि ये भाव एकमात्र रसिक-समाजके लिये हैं। प० प० प्र० स्वामीकी टिप्पणियोंमें इसके विपरीत आपको देखनेको मिलेगा।

शृङ्गार-युद्ध-रहस्य (रसिकसमाजके लिये)

पं० रामचरण मिश्रजी इस युद्धको यों वर्णन करते हैं—'भूपबाग ऋतुराज बसन्तकी रजधानी है, चातक-कोकिल आदि सचिवादि वर्ग हैं, मदनवीर सुहृद् है, नवपल्लव-फल-फूल आदि कोष हैं, वन-उपवन आदि राष्ट्र (देश) हैं, मकरन्दका आमोद दुर्ग है। स्त्रीवर्ग बल (सेना) है।'

'जब श्रीचक्रवर्ती राजकुमार रजधानी बागमें घुस दल-फूलरूपी सम्पत्ति लूटने लगे, तब ऋतुराजकी आज्ञा पा मदनवीरने सेनाकी अधिष्ठात्री श्रीकिशोरीजीको सूचना दी कि राजकुमारोंको गिरफ्तार करें।'

'यह खबर पाकर श्रीकिशोरीजीने नीति-मर्यादाका पालन किया। उन्होंने एक सखीको सन्धिके निमित्त भेजा। पर, सन्धि दूर रही उस सखीहीको भृकुटि-धनु तानकर कटाक्षरूपी बाणोंसे उन्होंने घायल कर दिया। तब बेहोशीके साथ विह्वल वह सखी सीताजीके पास आकर पुकार करने लगी। उस प्रिय सखीकी दशा देखकर सखीसमाजरूप सेनादल साथ लेकर सीताजीने चढ़ायी की। तब सुसज्जित दल देख मदनवीरने कङ्कणादिकोंके शब्दरूप नगाड़ेका डंका दिया। अब आगे शृङ्गारयुद्ध करके महारानी राजकुमारको गिरफ्तार करके लौटेंगी।'

नोट—२ मिश्रजीने युद्धप्रकरणका चित्र इस प्रकार खींचा है और अन्य महानुभावोंने श्रीकिशोरीजीके आगमनसे इस प्रकरणको उठाया है—*'कंकन किंकिनि नूपुर धुनि सुनि'* से।

यह युद्ध-रहस्य *'अवसि देखियहि'* इन शब्दोंसे प्रारम्भ होता है। 'देख लेंगे' यह मुहावरा है, बदला चुकानेके भावमें ये शब्द प्रयुक्त होते हैं। सखी कह रही है कि इन्हें अवश्य दण्ड देना चाहिये, जिससे फिर कभी अपराध न करें। आखिर इन्होंने क्या अपराध किया है जो इनको दण्ड देना जरूरी है? उसपर सखी कहती है कि इन्होंने बहुत-से अपराध किये हैं—*'निजरूप मोहनी डारी। कीन्हें स्वबस नगर नर नारी॥'* इतना ही नहीं किंतु हमारे साथकी प्रिय सखीपर भी बिना अपराध वार किया, श्रीजनक महाराजकी भी क्या दशा कर दी, इत्यादि। अब राजकुमारी सखियोंसहित संग्राम करने चलीं।

लड़ाई करनेमें डंका आदि जुझाऊ बाजोंकी जरूरत पड़ती है। *'कंकन किंकिनि नूपुर धुनि'* यही डंका आदिक हैं। पं० शिवलाल पाठक कहते हैं कि साथमें सखियोंकी फौज है। जैसे परेडपर फौज जमा होकर नेता (सेनापति) की आज्ञासे जब चलती है तो सबके पद एक साथ उठते-पड़ते हैं, वैसे ही यहाँ चारों ओर प्रौढ़ा सखियाँ हैं, मध्यमें किशोरीजी, प्रौढ़ाके बाद मध्या फिर मुग्धा हैं, इन सबोंके कदम एक साथ उठते-पड़ते हैं तो शब्द ऐसा होता है मानो कङ्कण कहते हैं कि इस छबिके आगे कौन कङ्क (दरिद्र) न (हुआ), तब *'किंकिनि'* कहते हैं कि इनके सामने किस-किसने हार नहीं मानी। नूपुर उसका उत्तर देते हैं कि 'छन-छन' अर्थात् क्षणमात्रमें सब हार जाते हैं—*'मंजीर नूपुर कलित कंकन

ताल गति बर बाजहीं।'

कङ्कणादिका शब्द सुन राजकुमार श्रीरामचन्द्रजी स्वयं कह रहे हैं कि ***'मानहुँ मदन दुंदुभी दीन्ही। मनसा बिश्व बिजय कहँ कीन्ही॥'*** डंकेकी चोट सुन वे लक्ष्मणजीसे सलाह करते हैं कि क्या करें? भागें कि संधि करें या मुकाबिला करें? लक्ष्मणजी 'सन्न' रह जाते हैं कि वीर होकर भागनेको आप कहते हैं।

इस प्रकार डंकेपर चोट दे विजयकी इच्छासे कामदेव वाटिकामें आया। जब समीप पहुँचा तो सोचे कि मेल कर लें, अतः ***'अस कहि फिर चितये तेहि ओरा। सिय मुख ससि भये नयन चकोरा॥'*** चकोरकी चन्द्रमासे प्रीति है, अतः इससे 'साम' नीति दर्शित की। पर अब मेल कहाँ, प्रिय सखीको जैसा घायल किया था, पुरवासिनियोंकी जैसी दशा की थी, वैसी ही करके इनको गिरफ्तार करना है। अतः बाणोंकी वृष्टि होने लगी जिससे ***'हृदय सराहत बचन न आवा।'*** हृदय बाणोंकी चोटसे घायल हो गया, वचन नहीं निकलता। मनहीमें शत्रु हाय-हाय करने लगा। वीरता, धीरता और उदारता तीनोंसे रहित हो गया। (नोट—लक्ष्मणजीसे जो तीन गुण रघुवंशियोंके कहे, उन्हीं तीनोंसे रहित हो जाना गिनाते हैं। ***'मुख सरोज मकरंद छबि करइ मधुप इव पान'*** यहाँ याचक बने, उदारता गयी, नयन सरसे हत हुए, यह वीरता भागी और साथ ही धैर्य भी।) शत्रु जब बहुत घायल हुआ तब जा छिपा। (नोट—पूर्व जो कहा था कि ***'चहुँदिसि चितइ पूछि मालीगन'*** उसका भाव शृङ्गार-युद्ध-सम्बन्धसे यह लगाते हैं कि नगर-दर्शन समय सुमन-वर्षाद्वारा जो संकेत सखियोंने किया था कि आज तो तुमने हमें स्वामिनीके बिना पाकर काबूमें कर लिया, कल फुलवारीमें आइये, तब आपको देख लेंगी, वहाँ आपकी भी यही दशा कर देंगी, उसी खयालसे आप चारों ओर देखने लगे कि युद्धमें कहीं भागना पड़ा तो कहाँ जायँगे। अब यहाँ लताका ओट लिया। शरण भी मिली तो स्त्रीकी।)

इधर फौज इनकी ताकमें है, सखियोंने पता लगा ही तो लिया—***'लता ओट तब सखिन्ह लखाए'*** स्वामिनीसे कहा कि ये बड़े चतुर हैं, देखिये कैसे जा छिपे! इनपर तरस न खाना चाहिये। इन्हें पकड़कर बन्दीखानेमें भेज देना चाहिये, नहीं तो ये भाग जायँगे। बस, तड़ातड़ बाणवृष्टि होने लगी—***'जहँ बिलोक मृग सावक नैनी। जनु तहँ बरसि कमलसित श्रेनी॥'*** नेत्र-कटाक्षरूपी बाणोंद्वारा हराकर तब इनको पकड़कर कैद किया गया—***'लोचनमग रामहि उर आनी। दीन्हे पलक कपाट सयानी॥'***

(नोट—३ या यों कहें कि बाण-वृष्टि होती रही तब शत्रु जा छिपा। स्वामिनीको सुस्ता लेनेको सखियोंने इशारा किया। ***'दीन्हें पलक कपाट'*** यह राजकिशोरीके बाणोंकी वृष्टिका बन्द होना और उनका सुस्ताना है। वृष्टि बन्द होते ही शत्रु फिर प्रकट हो सामने आ गया—***'लता भवन ते प्रगट भये तेहि अवसर "।')***

पर शत्रु बड़े धूर्त हैं। वे वहाँसे फिर निकल आये। सखि-सेनाने चाहा कि हम ही इनको बाँध लें, स्वामिनीको क्यों कष्ट दें; पर इनके लिये शत्रु बहुत था, उसने सेनाको विह्वल कर ही दिया—***'बिसरा सखिन्ह अपान।'*** तब एकने आकर पुकार की कि वे निकल आये, हमारे किये कुछ नहीं होता, शीघ्र उन्हें दण्ड दें और ऐसे कैदखानेमें रखें जहाँसे निकल न पावें।—***'भूप किसोर देखि किन लेहू।'*** आपने आकर देखा तो सच ही सम्मुख मुकाबिलेको आया हुआ देखा—***'सनमुख दोउ रघुसिंघ निहारे।'*** अब सेनाको जोर मिला। वह कहती है—लो अभी मजा चखाती हैं, फिर ऐसा न कर सकोगे, इसपर कसर भी रहे तो फिर कल आना! यह जताकर स्वामिनीको इसकी ओरसे सावधान कर रही हैं। वे आकर इनको अबकी फिर कैद कर ऐसी जगह रखती हैं जहाँ किवाड़ें आदि भी नहीं कि निकल जायँ।—***'चली राखि उर स्यामल मूरति।'*** जय पाकर देवीका पूजन किया, सो उचित ही है।

'प्रीतम-प्यारी श्रीजनकफुलवारी' अर्थात् पुष्पवाटिका-प्रकरण समाप्त हुआ।
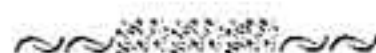
धनुषयज्ञ—श्रीसिया-स्वयंवर

बिगत निसा रघुनायक जागे। बंधु बिलोकि कहन अस लागे॥ ६॥
उयेउ अरुन अवलोकहु ताता। पंकज कोक लोक* सुखदाता॥ ७॥
बोले लखनु जोरि जुग पानी। प्रभु प्रभाउ सूचक मृदु बानी॥ ८॥

शब्दार्थ—**निसा**=प्रथम तीन प्रहरकी रात्रि। **अरुन** (अरुण)=दिन-रातमें साठ घड़ी होती है। छप्पन घड़ी बीतनेपर चार घड़ी रात्रि रहनेके समयको अरुणोदय कहते हैं; वह काल जब सूर्यकी लाली पूर्व दिशामें सूर्योदयसे दो मुहूर्त पहले होती है 'अरुणोदय' का प्रारम्भ है। '**उदयात् प्राक् चतस्त्रस्तु नाडिका अरुणोदयः।**' **अरुण**=ललाई, लाली। **उयेउ**=उदय हुआ। **उयेउ अरुन**=अरुणोदय हुआ।

अर्थ—रात्रि बीत जानेपर रघुनाथजी जागे। भाईको देखकर इस प्रकार कहने लगे—॥ ६॥ हे तात! देखो। कमलकोक (चक्रवाक) और लोगों वा लोक (संसारमात्र) को सुख देनेवाला अरुणोदय हुआ॥ ७॥ लक्ष्मणजी दोनों हाथ जोड़कर प्रभुके प्रभाव (प्रताप) को सूचित करनेवाली कोमल वाणी बोले—॥ ८॥

श्रीराजारामशरणजी—तुलसीदासजीकी संकेतकला बड़ी सुकुमार है। जिन वस्तुओंको चन्द्रमा शोकप्रद था, अरुणोदय उन्हींको सुखप्रद है। साफ संकेत है कि शायद (सम्भवतः) अरुण सीताजीके मुखकी समता पा सके। अभी बात भी पूरी न करने पाये थे कि वीर लक्ष्मणने सोचकर कि रामजीका खयाल उसी शृङ्गाररसमें ही लगा है और आज धनुषयज्ञमें वीररसकी आवश्यकता है, कैसी नम्रतासे रामजीके विचारको फेरा है, एक छिपी हुई हास्यकी चुटकी भी है कि आपका विचार किधर† है। अरुण वीररसका द्योतक है, 'उषा' की लाल ओढ़नीवाली बात नहीं है। उन्होंने साफ ही सारा वीररसका रूपक ही बाँध दिया। 'वि॰ मा॰ हास्यरसके पृष्ठ ९१ पर नोट है कि 'मुँहसे एकदम निकल जाता है कि *'हरकस बखयाले खेश खब्ते दारद', 'कोउ काहूमें मगन कोउ काहूमें मगन।'* 'राम' प्रेममें मग्न और लक्ष्मणजी वीररसमें; परंतु राममें उपहास-भाव इतना सुन्दर है कि उन्हें अपने ऊपर खुद (स्वयं ही) हँसी आ गयी—*'बंधु बचन सुनि प्रभु मुसुकाने।'*

टिप्पणी—१ (क) *'बिगत निसा।'* प्रथम तीन प्रहर रात्रिकी 'निशा' संज्ञा है। निशा तीन प्रहरकी होती है, इसीसे रात्रिका त्रियामा भी एक नाम है। [यथा—'**त्रियामा रात्रिरिष्यते**' पुनश्च, '**निशा निशीथिनी रात्रिः, त्रियामा क्षणदा क्षपा।**' इति। (अमरकोश १। ४। ३)] इसके बीतते ही सदाचारी लोग जागकर परमेश्वरका स्मरण-चिन्तन आदि करते हैं। *'बंधु बिलोकि'* से पाया गया कि लक्ष्मणजी आगेहीसे उठकर बैठे हुए हैं; यथा—*'उठे लषन निसि बिगत सुनि अरुनसिखा धुनि कान। गुर ते पहिलेहि जगतपति जागे राम सुजान॥'* (२२६) श्रीलक्ष्मणजी सोते न थे यह विदित है। [बैजनाथजीका मत है कि 'श्रीरामचन्द्रजीको विरहमें नींद नहीं पड़ी, निशा बीतनेकी प्रतीक्षा करते रहे, इसीसे निशा बीतते ही वे प्रथम ही जगे। लक्ष्मणजीका प्रथम जागना उचित था, पर अभी सोकर उठनेका समय नहीं आया था, इससे वे लेटे ही हुए थे। इनको लेटे हुए देख श्रीरामजी बोले। पर इस मतका खण्डन पं॰ रामकुमारजीकी टिप्पणीसे हो जाता है। *'जागे'* शब्द स्पष्ट बताता है कि नींद पड़ी थी, नहीं तो *'उठे'* शब्द देते जैसा लक्ष्मणजीके सम्बन्धमें कहा था। यथा—*'उठे लषन निसि बिगत……।'* दूसरे यदि यहाँ मानें कि नींद नहीं पड़ी थी तो *'गुर ते पहिलेहि जगतपति जागे राम सुजान'* में भी मानना पड़ेगा कि नींद न पड़ी थी, जो सर्वथा अनुचित होगा।] (ख) *'उयेउ अरुन अवलोकहु'* इति। शास्त्राज्ञा है कि राजा प्रातःकाल उठकर सूर्यका

---

* लोक कोक—१७०४। कोक लोक—१६६१, १७२१, १७६२, छ०, को० रा०।

† लक्ष्मणजी बड़े गम्भीर हैं, प्रभु-प्रभाव जानते हैं, अनुगामी हैं; इससे हास्यका लेश भी वहाँ सम्भव नहीं है। मानसके लक्ष्मण वाल्मीकीयके लक्ष्मण नहीं हैं।—यह हम लोगोंका विचार है।

दर्शन करे। यथा—'**रोचनं चन्दनं हेमं मृदंङ्ग दर्पणं मणिम्। गुरुमग्निं तथा सूर्यं प्रातः पश्येत्सदा बुधः॥ निशाप्रान्ते तु यामार्द्धे देववादित्रवादिने। सारस्वतानध्ययने चारुणोदय उच्यते॥**' इति। (स्मृतिः) ये राजकुमार हैं, इससे इनको भी सूर्यदर्शन करना चाहिये, इसीसे सूर्यावलोकन करनेको कहते हैं। [पर अरुणोदय सूर्योदयसे चार घड़ी पूर्व होता है। शब्दार्थ देखिये, अतः यहाँ सूर्यदर्शन करनेकी बात कुछ बेतुकी-सी है। 'हाँ यदि 'अरुण' से भानुका अर्थ लें तो अर्थ लग सकता है; आगे '***उएउ भानु***' '***रबि निज उदय***' शब्द आये ही हैं।] (ग) '***पंकज कोक लोक सुखदाता***' इति। पूर्व दिखा आये कि चन्द्रमा तीनों स्थलोंके वासियोंको दुःख देता है—'***घटै बढ़ै बिरहिनि दुखदाई***', '***कोक सोकप्रद पंकज द्रोही।***' यहाँ सूर्यका तीनों स्थलोंके निवासियोंको सुख देना कहते हैं। पंकज जलचर है। '**लोकस्तु भुवने जने।**' इति। (अमरकोश) यहाँ लोक शब्द जनवाचक है, जन थलचर हैं। कोक नभचर है। जलचर, थलचर और नभचर ये ही तीन प्रकारके जीव संसारमें हैं। यथा—'***जलचर थलचर नभचर नाना। जे जड़ चेतन जीव जहाना॥***' (१। ३। ४) [यहाँ अरुणोदय कारण और पंकज कोक लोक सुखदाता कार्य दोनोंका वर्णन 'प्रथम हेतु अलङ्कार' है। पाँड़ेजी लिखते हैं कि 'तात' श्लिष्ट पद है। एक भाईका सम्बोधन है, दूसरा 'तप्त' के अर्थमें है। भाव यह है कि सूर्यके बिना जो कमल, कोक और लोक तप्त रहते हैं उनको सुखदाता वही सूर्य है। कोक शब्द अपनी इच्छाका है, इसीसे कोक और कोकी दोनों नहीं कहे।] (घ) ☞ 'जब चन्द्रमा उदय हुआ था तब श्रीरामजी न बोले थे; यथा—'***प्राची दिसि ससि उयेउ सुहावा। सिय मुख सरिस देखि सुख पावा॥***' क्योंकि चन्द्रमा सियमुखसरिस है। सियमुखकी शोभा अनिर्वचनीय है—'***देखि सीय सोभा सुखु पावा। हृदय सराहत बचन न आवा॥***' इसीसे वहाँ लक्ष्मणजीसे कुछ न बोले थे और यहाँ बोले।

टिप्पणी—२ (क) '***बोले लखन जोरि जुग पानी***' इति। कल श्रीरामचन्द्रजी लक्ष्मणजीसे बातें करते रहे पर लक्ष्मणजी कुछ न बोले थे, क्योंकि तब उनका बोलना उचित न था। कारण कि सत्पुरुषोंकी वाणी निर्दोष होती है। उसपर भी श्रीरामजीकी वाणी! श्रीरामजीकी वाणीका खण्डन करनेमें '**सदर्थे**' वाला दोष लगता। पुनः यदि कहते कि श्रीजानकीजीकी शोभा ऐसी ही है कि मनमें क्षोभ उत्पन्न कर देती है तो भी दोष आता है, (क्योंकि इससे सूचित होता है कि उन्होंने भी शोभा देखी और उनका मन क्षुब्ध हो गया, यद्यपि न उन्होंने शोभा देखी न मन क्षुब्ध हुआ, उनका तो श्रीसीताजीमें मातृभाव है।) '***कंकन किंकिनि नूपुर धुनि सुनि। कहत लषन सन रामु हृदय गुनि॥ मानहु मदन दुंदुभी दीन्ही। मनसा बिस्व बिजय कहँ कीन्ही॥***' (२३०। १-२) यह सुनकर लक्ष्मणजी कुछ न बोले थे। भाव यह कि जब श्रीरामजीने श्रीजानकीजीकी शोभा और अपनी दशा कही; यथा—'***तात जनक तनया यह सोई। धनुषजग्य जेहि कारन होई॥***'—(२३१) तब न बोले, क्योंकि बोलना उचित न था और यहाँ बोलना उचित है, इससे हाथ जोड़कर स्तुति करते हुए बोले। [विशेष आगे २३९ (४-५) में श्रीलमगोड़ाजीकी टिप्पणी और २३९। ७ में नोट २ गौड़जीकी टिप्पणी भी देखिये।] हाथ जोड़कर बोलना स्तुतिकी रीति है। (यह नम्रताका लक्षण है। गुरुजनोंसे नम्रतापूर्वक बात करनी चाहिये। पंजाबीजी कहते हैं कि आपको 'वेद नेति-नेति कहते हैं। हमारे कथनमें जो न्यूनता हो उसे क्षमा कीजियेगा', यह हाथ जोड़कर सूचित किया।) (ख) '***लखन***' नाम सार्थक है अर्थात् लखनेवाले आशय यह कि लक्ष्मणजी यह बात लख चुके कि प्रभु आज धनुष तोड़ेंगे।'—(पाँड़ेजी) (ग)—'***प्रभु प्रभाउ सूचक***' अर्थात् वाणी गम्भीर है, उसमें बहुत अभिप्राय भरा हुआ है। **सूचक**=जनाने, सुझाने वा सूचना देनेवाली। वाणी सुननेमें मृदु है।

दो०—अरुनोदय सकुचे कुमुद उडगन जोति मलीन।
जिमि* तुम्हार आगमन सुनि भये नृपति बलहीन॥ २३८॥

* तिमि—१७०४।

अर्थ—अरुणोदय होते ही कुमुद सकुचा (सम्पुटित, मुरझा) गये, तारागणकी ज्योति (कान्ति, प्रकाश) फीकी पड़ गयी, जैसे आपका आगमन सुनकर राजालोग बलहीन हो गये॥ २३८॥

टिप्पणी—१ (क) यहाँ आप (श्रीरामजी) का आगमन अरुणोदय है। नृपति (कुमुद और) तारागण हैं। तेज ज्योति है। तारागणकी ज्योति मलिन हुई अर्थात् उनका चमकना जगमगाना बन्द हुआ; वैसे ही राजा तेजहीन हो गये और कुमुदकी तरह सकुचा गये। तेज हत होनेहीसे बलहीन हो गये।—[कुमुदिनी (कोकाबेली) रातमें प्रफुल्लित रहती है, वैसे ही जबतक श्रीरामचन्द्रजी नहीं आये तबतक सब राजा प्रफुल्लित थे। इनके आगमनरूपी अरुणोदयसे सकुचा गये।] (ख) *'आगमन सुनि'* इति। अरुणोदयकालमें सूर्य नहीं देख पड़ते, इसी तरह राजा लोगोंने अभी आपको देखा नहीं है, आपका आगमन सुना है। अतः सुनकर बलहीन होना कहा। पुनः अरुणोदयकालमें तारागण देख पड़ते हैं, पर उनकी ज्योति मलिन हो जाती है। सूर्यके उदय होनेपर तो देख ही नहीं पड़ते। इसी तरह श्रीरामजीके उदयमें राजालोग देख ही न पड़ेंगे; यथा—*'जहँ तहँ कायर गवहिं पराने।'* अरुणोदय प्रातःकालके प्रथम होता है। (ग) *'सकुचे कुमुद'*, यथा—*'रघुबर उर जयमाल देखि देव बरषहिं सुमन। सकुचे सकल भुआल जनु बिलोकि रबि कुमुदगन॥'* (२६४) *'मानी महिप कुमुद सकुचानें।'* (२५५। २) *'उडगन जोति मलीन'*, यथा—*'श्रीहत भए भूप धनु टूटे। जैसे दिवस दीप छबि छूटे॥'* और *'भए नृपति बलहीन'*, यथा—*'बल प्रताप बीरता बड़ाई। नाक पिनाकहि संग सिधाई॥'*, *'नृपन्ह केरि आसा निसि नासी। बचन नखत अवली न प्रकासी॥'* (२५५। १)—इस प्रकार राजाओंकी ये तीनों दशाएँ—सकुचाना, श्रीहत होना और बलहीन होना—इस दोहेमें कही गयीं। दो दशाएँ उपमाओंके द्वारा दिखायीं।

नोट—१ पाँड़ेजी लिखते हैं कि 'कुमुद अर्थात् कुईंके फूलकी सफेदी सूर्योदय होनेपर जाती रहती है और स्याही प्रकट हो जाती है, इसी तरह राजाओंके मुखपर स्याही छा गयी और जैसे तारागण मलीन हो जाते हैं वैसे ही उनके वचनरूपी नक्षत्रोंकी दशा हो गयी।' २—बैजनाथजीका मत है कि *'बल'* से यहाँ बुद्धि और बाहु दोनोंका बल सूचित किया। सकुचकर चुप हो रहे—यह बुद्धिकी और धनुष न हटा सके यह बाहुबलकी हीनता है। ३—सं० १६६१ की प्रतिमें और पाँड़ेजीकी पोथीमें *'जिमि'* पाठ है। कुछ पुस्तकोंमें *'तिमि'* पाठ है। *'तिमि'* पाठसे उत्तरार्ध स्पष्ट ही उपमेयवाक्य होता है और पूर्वार्द्ध उपमानवाक्य। वीरकविजी लिखते हैं कि 'दोनोंका एकधर्म निस्तेज होना समानार्थवाची शब्दोंद्वारा अलग-अलग कथन करना 'प्रतिवस्तूपमा अलङ्कार' है। *'तिमि'* वाचकसे उदाहरणकी संसृष्टि है।' (वीरकविजीने *'तिमि'* पाठ रखा है।) ४—नंगे परमहंसजीने राजाओंको तारागण और उनके मनको कुमुद माना है। अर्थात् राजा तेजहत हुए और उनके मन जो खिले हुए थे वे सकुच गये।

नृप सब नखत करहिं उजिआरी। टारि न सकहिं चाप तम भारी॥ १॥
कमल कोक मधुकर खग नाना। हरषे सकल निसा अवसाना॥ २॥
ऐसेहि प्रभु सब भगत तुम्हारे। होइहहिं टूटें धनुष सुखारे॥ ३॥

अर्थ—सब राजारूपी तारे (नक्षत्र) उजाला करते हैं, पर धनुषरूपी भारी अन्धकारको हटा नहीं सकते॥ १॥ कमल, चक्रवाक, भौंरे और अनेक प्रकारके पक्षी—ये सभी निशाका अन्त हो जानेपर प्रसन्न हुए॥ २॥ ऐसे ही, हे प्रभो! आपके सब भक्त धनुषके टूट जानेपर सुखी होंगे॥ ३॥

टिप्पणी—१ *'नृप सब नखत करहि उजिआरी।'* इति। (क) रात्रिमें समस्त नक्षत्र प्रकाश करते हैं पर किंचित् भी अन्धकार नहीं मिटा सकते। ऐसे ही समस्त राजा मिलकर भी धनुष तोड़ना चाहें तो भी धनुष नहीं तोड़ सकते। यथा—*'भूप सहस दस एकहि बारा। लगे उठावन टरइ न टारा॥'* यह अभिप्राय है। नक्षत्र उजियारी करते हैं, राजा बल करते हैं। यहाँ राजा नक्षत्र हैं, धनुष रात्रिका भारी अन्धकार है। इस कथनका तात्पर्य यह है कि जैसे जबतक अन्धकार रहता है तभीतक तारागणका तेज देख पड़ता है, वैसे ही जबतक धनुष है तबतक राजाओंका तेज देख पड़ता है, धनुष टूटनेपर

तेज नष्ट हो जायगा। यथा—'*श्रीहत भए भूप धनु टूटे।*' (ख) स्मरण रहे कि यहाँ केवल तारागणका प्रकाश कहते हैं। किसी भी राजाको चन्द्रमाकी उपमा नहीं देते। सबको तारा ही कहते हैं, क्योंकि आगे दोनों भाइयोंको चन्द्रमासमान कहेंगे, यथा—'*राजसमाज बिराजत रूरे। उडगन महुँ जनु जुग बिधु पूरे॥*' (दूसरे, चन्द्रमा एक ही है और राजा बहुत हैं, इससे चन्द्रमाकी उपमा न दी। तारागण बहुत हैं और राजा भी बहुत, अतः तारागणकी उपमा दी। तीसरे, चन्द्रमा कुछ अन्धकार मिटाता भी है। उसकी उपमा तब सार्थक हो सकती जब राजा किंचित् भी धनुषको हटा सकते।) (ग) '*तम भारी*' क्योंकि सब मिलकर भी न हटा सके। (घ) [अर्धाली १में उपमा और रूपककी संसृष्टि है।]

टिप्पणी—२ '*कमल कोक मधुकर खग नाना।*......' इति। श्रीरामजीने कहा था कि सूर्य पंकज, कोक और लोकको सुखदाता है, वही बात लक्ष्मणजी भी कहते हैं। लक्ष्मणजीने कमल, कोक, मधुकर और खग चार नाम कहे। सूर्योदयसे सभीको सुख होता है, पर इन सबोंको विशेष सुख मिलता है। कमल सूर्यका विशेष स्नेही है, यथा—'*जरत तुहिन लखि बनज बन रबि दै पीठि पराउ। उदय बिकस अथवत सकुच मिटै न सहज सुभाउ॥*' इति (दोहावली ३१६) इसीसे कमलका नाम प्रथम कहा। कमलसे उतरकर चक्रवाक सूर्यका स्नेही है,फिर भ्रमर और उससे उतरकर पक्षी प्रेमी है। इस तरह क्रमसे सूर्यके स्नेहियोंके नाम गिनाये। [सबका एक धर्म 'हर्ष' होनेसे 'प्रथम तुल्ययोगिता अलङ्कार' हुआ।]

ऐसेहि प्रभु सब भगत तुम्हारे।......इति।

पं० रामकुमारजी—'*ऐसेहि*' अर्थात् जैसे कमल, कोक, मधुकर और खग चार हैं, ऐसे ही आपके चार प्रकारके भक्त हैं—ज्ञानी, जिज्ञासु, अर्थार्थी और आर्त्त। यहाँ सन्त कमल हैं, यथा—'*बिकसे संत सरोज सब॥*' (२५४) मुनि और देवता कोक हैं, यथा—'*भए बिसोक कोक मुनि देवा।*' (२५५। ३) सबके लोचन मधुकर हैं, यथा—'*हरषे लोचन भृंग॥*' (२५४)'*पुरबासिन्ह देखे दोउ भाई। नरभूषन लोचन सुखदाई॥*' (२४१। ८) पुरवासियोंके लोचन भ्रमर हैं। इनके अतिरिक्त जो भक्त हैं वे खग हैं, खगके नाम न लिखे। इसीसे भक्तोंके नाम भी न लिखे। कमल, कोक और मधुकर तीनके नाम लिखे, इसीसे धनुषके टूटनेपर भी तीन प्रकारके भक्तोंके नाम लिखे। धनुषका टूटना रात्रिका नाश होना है।

बैजनाथजी—पहले चार उपमान कहे, अब चार भक्त उपमेय दिखाते हैं। धार्मिक राजा, लक्ष्मण और मुनिवृन्द जिज्ञासु हैं, जो कमलसमान सम्पुटित हैं। सखियोंके सहित किशोरीजी चक्रवाकीसमान आर्त्त हैं। चक्रवाकीसम इनका वियोग दूर होगा, संयोगसुख प्राप्त होगा। पुरवासी राजा और रानी भ्रमर हैं, धर्मबन्धनमें बद्ध अर्थार्थी हैं सो धर्मबन्धनसे छूटेंगे। विश्वामित्र आदि ज्ञानी भक्त खग हैं। [नोट—यह मत पाँड़ेजीसे लिया हुआ जान पड़ता है। उन्होंने भी यही चार कहे हैं। सखियाँ और जानकीजी आर्त्त हैं, यथा—'*सखि हमरे अति आरत ताते। कबहुँक ए आवहिं एहि नाते॥*' हाँ, पाँड़ेजीने यह नहीं लिखा कि इनमेंसे कौन कमल, कौन कोक इत्यादि हैं, यह बैजनाथजीने अपनेसे बढ़ाकर लिखा है।]

किसीका मत है कि कमल ज्ञानी भक्त हैं। क्योंकि जैसे कमल जलमें रहते हुए भी उससे निर्लिप्त रहते हैं, वैसे ही ये सब भोग करते हुए भी उसकी बाधासे रहित हैं। कोक आर्त हैं, मधुकर अर्थार्थी हैं। अन्य सब खग जिज्ञासु हैं। भ्रमरोंको रसकी चाह है इससे वे अर्थार्थी हैं।

वि० त्रि०—ज्ञानीकी उपमा कमलसे है, क्योंकि वह साक्षात् सूर्यसे प्रेम करता है। जिज्ञासुकी उपमा कोकसे है, क्योंकि उसे अपनी कोकीकी खोज है, जिसकी प्राप्ति सूर्यके बिना सम्भव नहीं। अर्थार्थी मधुकर है, उसे मधु चाहिये, सूर्योदय बिना न कमल खिले न उसे मधु मिले। आर्तकी उपमा '*खग नाना*' से है, क्योंकि अपने पेटका भोजन बच्चेको खिलाकर भूखे पेट अपने घोंसलेमें बैठे आर्त हो रहे हैं, रातको सूझता नहीं कहाँ जाय, जब सूर्य निकले तब चारेकी खोजमें चलें। अपने-अपने हितार्थ वे चारों सूर्यसे प्रेम करते हैं।

श्रीनंगे परमहंसजी—रात्रिके व्यतीत होनेपर और सूर्यके उदयमें कमल इत्यादिको सुख बताया गया है, यह क्रमसे है। सबसे विशेष सुख कमलको हुआ क्योंकि वह बिलकुल सूर्यके आश्रित है। इसी तरह श्रीसीताजीको सुख होगा, क्योंकि वे श्रीरामजीके आश्रित हैं। चकवा-चकईकी समतामें राजा (जनक) और रानी हैं, क्योंकि धनुषरूपी रात्रिके रहते दोनों चिन्तित हैं, उसके टूटनेपर ही सुखी होंगे। सीताजीकी सखियाँ मधुकर हैं, क्योंकि कमलसे और मधुकरसे सम्बन्ध है, सीताजी और सखियोंमें सम्बन्ध है, सीताजीके सुख-दुःखसे सखियोंको सुख-दुःख, जैसे कमलके सुख-दुःखसे भ्रमरको सुख-दुःख। नाना प्रकारके पक्षियोंकी समतामें जनकपुरके नर-नारी हैं। यहाँ जनकपुरमें जो चार प्रकारके भक्त हैं, उनको जो हर्ष धनुष टूटनेपर होगा उसीकी समता कमल इत्यादिसे दी गयी है। क्योंकि 'कमल इत्यादि रात्रिमें सम्पुटित एवं चिन्तित रहते हैं, उसी तरह धनुषके रहते जनकपुरके लोग चिन्तित रहते हैं और ज्ञानी इत्यादि भक्त धनुषके रहते चिन्तित नहीं हैं। पुनः कमल इत्यादिकी समता या तो जनकपुरके भक्तोंमें लगाइये या ज्ञानी इत्यादि भक्तोंमें लगाइये पर दोनोंमें एकहीकी समता लगेगी, नहीं तो अलङ्कारविरोध हो जाता है। अतः जनकपुरके भक्तोंमें लगेगी। यहाँ ज्ञानी इत्यादिका प्रयोजन नहीं।

उएउ भानु बिनु श्रम तम नासा। दुरे नखत जग तेजु प्रकासा॥ ४॥
रबि निज उदय ब्याज रघुराया। प्रभु प्रतापु सब नृपन्ह देखाया॥ ५॥

अर्थ—सूर्य उदय हुआ, बिना परिश्रम अन्धकार नष्ट हो गया। तारागण छिप गये, संसारमें तेजका प्रकाश हुआ॥ ४॥ हे रघुराया! सूर्यने अपने उदयके बहानेसे आपका प्रताप सब राजाओंको दिखाया है॥ ५॥

टिप्पणी—१ (क) *'उएउ भानु बिनु श्रम तम नासा'* इति। भाव कि जो भारी अन्धकार अनन्त तारागणके तेजसे न टला, वह एक सूर्यके उदयसे बिना श्रम नष्ट हो गया। इसी तरह राजाओंके बड़े परिश्रम करनेपर भी धनुष तिलभर भी न हटा। यथा—*'तमकि तमकि तकि सिवधनु धरहीं। उठै न कोटि भाँति बल करहीं॥'* वही रामरूपी सूर्यसे बिना प्रयास नष्ट हो गया। यथा—*'छुअतहि टूट पिनाक पुराना।'* (२८३। ८) (ख) *'दुरे नखत जग तेज प्रकासा'* इति। राजा तारे हैं; यथा—*'नृप सब नखत करहिं उजिआरी', 'देखिअत भूप भोर के से उडगन गरत गरीब गलानि हैं।'* (गी० १। ७८। ५) सो छिप गये। यथा—*'रावन बान महाभट भारे। देखि सरासन गवहिं सिधारे॥'* जगत्‌में श्रीरामजीके तेजका प्रकाश हुआ। यथा—*'महि पाताल नाक जस ब्यापा। राम बरी सिय भंजेउ चापा॥'*

टिप्पणी—२ (क) *'रबि निज उदय……'* इति। अर्थात् राजाओंको दिखाया कि जैसे हम उदित हुए हैं ऐसे ही प्रभुका प्रताप उदित होगा, जैसे हमारे उदयसे बिना श्रम तमका नाश हुआ, नक्षत्र छिप गये, जगत्‌में तेजका प्रकाश हुआ, कमल, कोक, मधुकर, खग प्रसन्न हुए, वैसे ही श्रीरामजीसे बिना परिश्रम धनुष टूटेगा, राजा छिप जायेंगे, जगत्‌में रामजीके तेजका प्रकाश होगा, चारों प्रकारके भक्त सुखी होंगे। (ख) राजाओंको दिखानेका भाव कि सब राजा धनुष तोड़ने आये हैं, इसीसे उनको दिखाते हैं कि तुमसे धनुष कितना ही परिश्रम करनेपर भी न टूटेगा, वह श्रीरामजीसे ही टूटेगा। (ग) अपने उदयसे प्रताप दिखाना कहा। इसमें तात्पर्य यह है कि प्रतापकी उपमा सूर्यकी दी जाती है; यथा—*'जब ते राम प्रताप खगेसा। उदित भयउ अति प्रबल दिनेसा॥'* (७। ३१), *'जिन्हकें जस प्रताप के आगे। ससि मलीन रबि सीतल लागे॥'* (२९२। २), *'कोक तिलोक प्रीति अति करिही। प्रभु प्रताप रबि छबिहि न हरिही॥'* (२। २०९) (घ) [अर्धाली ४ में कारण और कार्य दोनोंका एक साथ वर्णन 'प्रथम हेतु अलङ्कार' है। सूर्योदयसे बिना परिश्रम इतने कार्योंका होना 'कारक दीपक अलङ्कार' है। 'व्याज' शब्दसे औरोंका कहना 'कैतवापह्नुति' और 'द्वितीयपर्यायोक्ति' अलङ्कारोंका यहाँ सन्देहसंकर है।—(वीरकवि)]

श्रीराजारामशरणजी—१ लक्ष्मणजीकी युक्तियाँ बड़ी सुन्दर हैं। उन्होंने भक्ति और वीररसोंके भावोंका प्रवाह बहा दिया। प्रत्युत्तरकलाका लुत्फ देखिये—फुलवारीमें सीताजीका वर्णन रामजीके मुखसे हुआ

फिर कल शामको संध्यासमय; मगर ये चुप रहे। अब सेवाभावके कारण प्रभुको विनम्र उत्तररूप चेतावनी देनेसे रुक न सके। और मजा यह कि 'व्याज' वाली युक्तिका भी उत्तर देकर मानो पाँसा ही पलट दिया। शृङ्गारकी निमग्नतामें चन्द्रमाको रामजीने सीतामुखका व्याज कहा था, यहाँ वीर और शान्तरसमें सूर्यको प्रभुप्रतापका व्याज बताया गया। २—उपमानोंके त्यागका चढ़ाव देखिये। बेचारा अरुण तो ठहरने ही नहीं पाया और अप्रासङ्गिक कह दिया गया, कारण कि वह शृङ्गाररसमें सीतामुखकी समताके लिये प्रयुक्त हो ही नहीं सकता। ३—चरित्रसंघर्षमें यह वार्ता कितनी उपयोगी है। प्रभाव आगे लिखा है।

नोट—☞ उत्तरकाण्डके राम-प्रताप-रविके उदयसे मिलान कीजिये—

पूरि प्रकास रहेउ तिहुँ लोका—१—दुरे नखत जग तेज प्रकासा
प्रथम अबिद्या निसा नसानी—२—उएउ भानु बिनु श्रम तम नासा
काम क्रोध कैरव सकुचाने—३—अरुनोदय सकुचे कुमुद

धरम तड़ाग ग्यान बिग्याना। ए पंकज बिकसे बिधि नाना॥ } ४ *कमल कोक मधुकर खग नाना।*
सुख संतोष बिराग बिबेका। बिगत सोक ए कोक अनेका॥ } *हरषे सकल निसा अवसाना॥*
जब तें राम प्रताप खगेसा। उदित भयउ अति प्रबल दिनेसा॥ } ५ *रबि निज उदय ब्याज रघुराया।*
नोट—यहाँ भी आगे रामजीको रवि कहेंगे—*रघुबर बाल पतंग* } *प्रभु प्रताप सब नृपन्ह देखाया॥*

तव भुज बल महिमा उदघाटी। प्रगटी धनु बिघटन परिपाटी॥ ६॥
बंधु बचन सुनि प्रभु मुसुकाने। होइ सुचि सहज पुनीत नहाने॥ ७॥

अर्थ—यह धनुष तोड़नेकी परम्परा आपके भुजबलकी महिमा (रूपी सूर्य) के उदयकी घाटी प्रकट हुई है। (अर्थात् जब उदयाचलपर सूर्य आते हैं तब सूर्यका उदय कहा जाता है; इसी तरह जब धनुष तोड़नेकी परम्पराके अनुसार आपके बाहुबलसे धनुर्भङ्ग होगा तब आपके बाहुबलकी महिमा सर्वोपर प्रकट हो जायगी, किसीको बतानेकी आवश्यकता नहीं)॥ ६॥ भाईके वचन सुनकर प्रभु हँसे। स्वाभाविक ही जो पवित्र हैं वे रघुनाथजी शौच आदिसे निवृत्त हो नहाये॥ ७॥

पं० रामकुमारजी—१ अब प्रताप रविका उदय कहते हैं। भुजबलकी महिमा उदयाचलकी घाटी है। उदयाचलकी घाटी सूर्यको प्रकट करती है और आपके भुजबलकी महिमा आपके प्रताप रविको प्रकट करेगी। धनु-बिघटन-परिपाटी=धनुषको तोड़कर परिपाटीसे। अर्थात् जब आप धनुषको अपनी भुजाओंके बलसे तोड़ेंगे तब आपका प्रताप उदय होगा। २ परिपाटी (परम्परा) कहनेका भाव कि भुजबलकी महिमासे उत्तरोत्तर प्रताप बल होगा। अभी धनुष तोड़ियेगा तब प्रतापका उदय होगा। जब विराध, खर-दूषण, कबन्ध, बालि, कुम्भकर्ण और रावणादि प्रबल राक्षसोंको मारेंगे तब प्रताप प्रबल होगा। जैसे-जैसे सूर्य उदयाचलकी घाटीमें आगे चलता है तैसे-तैसे उसका तेज बढ़ता जाता है। ऐसे ही भुजाकी महिमासे प्रताप बढ़ेगा। ३ जो कहें कि 'लक्ष्मणजीने आगेकी बातें कैसे जानी कि रावणादिको मारेंगे? तो उसका उत्तर यह है कि जब रामायणद्वारा रामजीकी भविष्यलीला श्रीसुनयनाजी आदि भी जानती हैं, यथा—'*राम जाइ बन करि सुरकाजू। अचल अवधपुर करिहहिं राजू॥*'''''*यह सब जागबलिक कहि राखा*', तब लक्ष्मणजी क्यों न जानेंगे? यह माधुर्यकी बात है, ऐश्वर्यमें तो सब जानते ही हैं!

रा० प्र०—'भुजबलकी महिमा उदयाचलकी घाटी है। वहाँसे धनुषके नाश होनेकी परिपाटी प्रकट हुई है। अर्थात् जैसे उदयाचलकी घाटीसे सूर्यके उदयकी परिपाटी है वैसे ही तुम्हारे भुजबलकी महिमासे धनुष तोड़नेकी प्रति अवतार परिपाटी है।'

बाबा हरीदासजी—लक्ष्मणजी श्रीरामजीका प्रताप रविरूप वर्णन करते हैं। भुजबल-महिमा उदयाचलकी घाटी है जो रविरूप प्रतापको प्रकट करेगी। रवि प्रात:काल उदय होते हैं और आज प्रात:कालसे धनुषयज्ञ है, आज ही धनुष टूटेगा। रवि प्रतिदिन उदय होते हैं वैसे ही यह परिपाटी युगों-युगोंसे प्रचलित है, सदा रामावतारमें धनुष तोड़ा जाता है।

श्रीनंगे परमहंसजी—'प्रथम शब्दोंका अवरेब कर लेना तब अर्थ करना। श्रीलखनलाल सूचित करते हैं कि हे प्रभु! सूर्य उदय होकर अपने बहानेसे आपका प्रताप सब राजाओंको दिखा रहे हैं। तो सूर्य उदयाचलसे प्रकट हुए हैं और उनकी ज्योति संसारमें परिपाटी अर्थात् फैल गयी है। उसी तरह आपकी भुजाके बलसे धनुष टूटेगा और महिमा अर्थात् प्रताप प्रकट होकर परिपाटी अर्थात् संसारमें फैल जायगा। यदि '*परिपाटी*' का अर्थ परम्परा किया जाय तो अर्थ-विरोध होगा क्योंकि यहाँ तो रामजी सूर्यकी समतामें हैं। जो बात सूर्यमें है वही बात रामजीमें अर्थ किया जायगा। पुनः यहाँ लखनलाल वर्तमान क्रियाको सूचित कर रहे हैं, भूत, भविष्यका कथन नहीं है; अतः परम्परा अर्थ असंगत है।

पाँड़ेजी—'तव भुजबलकी महिमाके, उदयकी यह धनु विघटनपरिपाटी घाटी प्रकटी है।'

संत श्रीगुरुसहायलालजी—'**उदघाटी**=ऊपर चेष्टा करनेवाली=सर्वोपरि।=उघारनेवाली, खोलनेवाली फेरनेवाली। =उघारनेका शील है जिसका।=जो उघारा जाय।' [इस तरह ये अर्थ होंगे—१ आपकी भुजाओंका बल सर्वोपरि है, जिससे धनुषके तोड़नेकी परिपाटी प्रकट हुई है। २—धनुष तोड़नेकी परिपाटी आपके छिपे हुए बाहुबलकी महिमाको उघारने खोलनेवाली प्रकट हुई है। भाव कि यह बात प्रसिद्ध है कि धनुर्भङ्गसे ही सदा आपके बलका प्रताप त्रैलोक्यपर प्रकट होता है। ३—धनुर्भङ्गकी जो परम्परा निकली है उसका स्वभाव ही यह है कि आपके भुजबलकी महिमाको खोल दे (आप चाहे जितना माधुर्यमें ऐश्वर्यको छिपावें।)]

शब्दसागरमें १ 'उद्घाटना'—(क्रि० स०। सं० उद्घाटन)=प्रकट करना, प्रकाशित करना खोलना। यथा—'*तहाँ सुधन्वा सब शर काटी। उदघाटी अपनी परिपाटी॥*' (सबल) २—परिपाटी-संज्ञा स्त्रीलिङ्ग (सं०)=क्रम, श्रेणी, सिलसिला।=प्रणाली, रीति शैली।=पद्धति, रीति, चाल। अंकगणित। ये अर्थ लिखे हैं।

वीरकविजी और श्रीपोद्दारजीने (मानसाङ्कमें) '*उदघाटी*' का अर्थ 'उद्घाटित करने (खोलकर दिखाने, प्रकाशित करने) के लिये किया है।' वीरकविजीके मतानुसार यहाँ 'कैतवापह्नुति', 'अनुमानप्रमाण' और 'पर्यायोक्ति' अलङ्कार हैं। प्र० स्वामीके मतानुसार यहाँ '*उदघाटी*' भूतकालिक क्रिया है और परिपाटी संज्ञा है।

नोट—१ '*प्रभु मुसुकाने।*' लक्ष्मणजीकी उक्तिपर प्रसन्न तो हुए पर उनकी उक्तिकी प्रशंसा न कर सके क्योंकि इस उक्तिमें प्रभुकी (अपनी) प्रशंसा है। 'बड़े लोगोंका, शिष्ट लोगोंका, सत्पुरुषोंका यह स्वभाव है कि अपनी प्रशंसा सुनकर सकुच जाते हैं, यथा—'*निज गुन श्रवन सुनत सकुचाहीं। परगुन सुनत अधिक हरषाहीं॥*' (३। ४६। १) इसीसे मुसकरा दिये। यथा—'*सुनि मुनि बचन प्रेमरस साने। सकुचि राम मन महुँ मुसुकाने॥*' (२। १२८। १) ☞ बड़ोंके मुखसे अपनी प्रशंसा सुनकर सकुचकर मनमें मुसकुराये, क्योंकि वाल्मीकिजी आदि बड़े हैं। लक्ष्मणजीके मुखसे प्रशंसा सुनकर केवल मुसकुरा दिये। यहाँ '*सकुचि*' न कहा क्योंकि लक्ष्मणजी छोटे हैं, लड़के हैं, संकोच बड़ेका होता है। (पं० रामकुमारजी) (२)—'फुलवारीसे लेकर इस घड़ीतक लक्ष्मणजी चुप थे। अवसर पाकर विरहवंत प्रभुको व्याजसे सान्त्वना देते हैं कि आप तो धनुषभङ्ग करेंगे ही। माता सीताजीका पाणिग्रहण अवश्य होगा। भगवान् शेष होकर भी परात्परकी इस अद्भुत लीलाके माधुर्यकी गम्भीरताको न समझ सके। प्रतापकी स्तुति करके सान्त्वनाकी चेष्टा करते हैं। इसपर मुसकुराये कि माया इतनी प्रबल है कि शेषतक नहीं बचते। (गौड़जी) (३) पाँड़ेजीका मत है कि मुसुकाने इससे कि जो मनोरथ रघुनाथजीका था वही लक्ष्मणजीने कह दिया। (४) वीरकविजी लिखते हैं कि भाईकी बात सुनकर मुसकुरानेसे प्रसन्नता व्यञ्जित करनेकी ध्वनि है। (५) त्रिपाठीजी कहते हैं कि मुसकुराये कि लक्ष्मणजी मेरे अभिप्रायको समझ गये और अब स्पष्ट कहे देते हैं कि धनुष आप ही तोड़ेंगे और आपका यश होगा। (६) '*बंधु बिलोकि कहन अस लागे*' उपक्रम है, '*बंधु बचन सुनि*' उपसंहार है।

नोट—२ '*होइ सुचि सहज पुनीत नहाने*' इति। (१) '*सहज पुनीत*' का भाव कि यह न समझो कि वे शौचादि क्रिया करनेसे अपवित्र हो गये थे, अब स्नान करनेसे पवित्र हुए किंतु वे सहज ही पुनीत हैं, कभी अपवित्र नहीं थे, न हैं, न होंगे, तब भी उन्होंने शौचादिसे निवृत्त हो स्नान किया। तात्पर्य कि लोकसंग्रहार्थ ऐसा करके अपने सदाचरणद्वारा जगत्को उपदेश देते हैं कि ये कर्म अवश्य करने चाहिये। (२) 'स्नान पवित्रताके

लिये किया जाता है सो रामचन्द्रजी सहज पुनीत हैं, यहाँ 'परिकराङ्कुर अलङ्कार' है और पवित्र होनेपर भी शुद्धताके लिये स्नान किया, यह 'विधि अलङ्कार' है। दोनोंकी संसृष्टि है।' (वीरकवि)

नित्य क्रिया करि गुरु पहिं आए। चरनसरोज सुभग सिर नाए॥ ८॥
सतानंदु तब जनक बोलाए। कौसिक मुनि पहिं तुरत पठाए॥ ९॥
जनक बिनय तिन्ह आइ सुनाई। हरषे बोलि लिये दोउ भाई॥ १०॥

अर्थ—नित्य (प्रत्येक दिन जो प्रातःक्रिया किया करते थे वह सब) कर्म करके गुरुजीके पास आये और उनके सुन्दर चरणकमलोंमें सुन्दर मस्तकोंको नवाया अर्थात् प्रणाम किया ॥ ८॥ तब (उसी समय) श्रीजनक महाराजने श्रीशतानन्दजीको बुलाया और तुरत विश्वामित्र मुनिके पास भेजा॥ ९॥ उन्होंने आकर श्रीजनकजीकी विनती सुनायी। मुनि प्रसन्न हुए और दोनों भाइयोंको बुला लिया॥ १०॥

टिप्पणी—१(*'नित्य क्रिया करि गुरु पहिं आए।'''*' इससे सूचित किया कि जैसे शौच और स्नान आदि नित्यकी क्रियाएँ हैं, वैसे ही गुरुको आकर प्रणाम करना भी एक नित्यका कर्म है; यथा—*'प्रातकाल उठि कै रघुनाथा। मातु पिता गुरु नावहिं माथा॥'* (२०५। ७) *'सकल सौच करि जाइ नहाए। नित्य निबाहि मुनिहि सिर नाए॥'* (२२७। १) तथा यहाँ *'नित्य क्रिया''''।'* (ख) नित्यक्रिया करके गुरुजीको प्रणाम करनेका भाव कि इससे सब नित्यक्रिया सफल होती है। ☞ जगत्के लोग सत्कर्म करके ईश्वरका नाम लेते हैं तब उनके कर्म पूर्ण (सफल) होते हैं और ईश्वर सत्कर्म करके गुरुचरणोंमें सिर नावें तब पूर्ण हों क्योंकि गुरुको ईश्वरसे बड़ा कहा है, यथा—*'तुम्ह ते अधिक गुरहि जिय जानी।'* [☞ यहाँ भगवान् सदाचारका उपदेश दे रहे हैं कि देखो हम भी गुरुको प्रणाम करते हैं। हमारे मनोरथ, हमारे सब कर्म, उनके प्रणामसे सफल हुए। तुम भी जो नित्यकर्म करो उसके अन्तमें गुरुको अवश्य प्रणाम कर लो। इससे उसमें जो त्रुटि भी रह गयी होगी उसकी पूर्ति हो जाती है। (ग) *'आए'* से जनाया कि श्रीरामजी नित्यकर्म अलग करते हैं, जिसमें मुनिके ध्यान-पूजनादिमें कोई निक्षेप न पड़े। (प्र० सं०) अरुणोदयपर उठकर शौचादिसे निवृत्त हो स्नान कर नित्यक्रिया की। प्रातःसंध्या भी यहाँ जना दी। प्रातःसंध्याके लिये आज्ञा नहीं देनी पड़ती क्योंकि यह सब नित्यकर्म करके तब गुरुके पास जाकर उनको प्रणाम किया जाता है। यथा—*'प्रातक्रिया करि गे गुरु पाहीं।'* (३३०। ४) प्रातःसंध्याका समय भी इससे सूचित कर दिया। अरुणोदयपर उठकर शौचादिसे निवृत्त होकर सूर्योदयके पूर्व ही प्रातःसंध्यासे निवृत्त हो गये, क्योंकि यही उत्तम प्रातःसंध्याका समय है। (२३७। ६) *'संध्या करन चले दोउ भाई'* में देखिये।] (घ) *'चरनसरोज सुभग सिर नाए'* इति। सरोज विशेषण देकर चरणकी सुन्दरता कही और सुभग विशेषण देकर सिरकी सुन्दरता कही। तात्पर्य कि दोनों भाइयोंके सिर नवानेसे गुरुचरणोंकी शोभा है कि धन्य हैं वे मुनि और उनके चरण कि जिनको परब्रह्म परमात्मा शीश नवाते हैं और मुनिके चरणोंमें सिर नवानेसे दोनों भाइयोंके सिरोंकी शोभा है, यथा—*'ते सिर कटु तूँबरि समतूला। जे न नमत हरि गुर पदमूला॥'* (११३। ४) यह गुरु और ब्राह्मणके चरणोंका माहात्म्य है। इस तरह दोनोंकी अन्योन्य शोभा कही। [नोट—बैजनाथजी *'सुभग'* से ऐश्वर्य देनेवाले, ऐश्वर्यसे परिपूर्ण यह अर्थ कहते हैं। ☞ श्रीरामजी अपने आचरणद्वारा उपदेश देते हैं कि वही शीश शोभायमान है जो गुरु और ब्राह्मणके आगे झुके, नहीं तो कड़वी तोंबीके समान अशोभित है।]

टिप्पणी—२ (क) *'सतानंदु तब जनक बोलाए'* कहनेका भाव कि और राजाओंके पास बन्दीजन, कामदार इत्यादिको भेजा और महामुनि विश्वामित्रजीके सम्मानार्थ अपने पुरोहित श्रीशतानन्दजीको भेजा। जैसे उनका आगमन सुनकर प्रथम ही दिन उनसे मिलनेमें उनका सम्मान किया था—*'संग सचिव सुचि भूरि भट भूसुर बर गुरु ग्याति। चले मिलन मुनि नायकहि मुदित राउ एहि भाँति॥'* वैसे ही अब भी उनका सम्मान किया। महात्माके पास महात्माका भेजना योग्य ही है। (ख) अपने पास बुलाकर भेजनेका भाव कि जैसा हम कहें उसी प्रकार वे जाकर हमारे शब्दोंमें हमारी विनय सुनावें, कोई भाव बिगड़ने न पावे।

क्योंकि कोई भाव बिगड़ गया तो वे क्रोध न कर बैठें जो हमारा सब बिगड़ ही जाय। इसीसे पास बुलाकर, सिखाकर तब भेजा कि बुलाना न कहें, बड़ोंको बुलवाना अनुचित है, उनसे यह कहना अनुचित है कि आपको बुलाया है, उनसे विनती करना चाहिये कि दोनों भाइयोंसहित पधारकर यज्ञकी शोभा बढ़ाइये। (ग) *'कौसिक मुनि पहिं तुरत पठाए'* से कौशिकजीकी प्रधानता रखी। *'तुरत'* भेजनेमें जनकजीका यह भाव है कि मुनि राजकुमारोंको लेकर सबसे प्रथम आ जावें। [भाव यह कि भीड़ न होने पावे, प्रथम ही उत्तम स्थानपर बिठा दिये जायँ। यह तो राजाने अपने धर्मका पालन किया और मुनिने अपना धर्म-पालन किया कि सबसे पीछे गये। बड़े लोग अपना अमूल्य समय नष्ट नहीं करते, इसीसे वे समयपर पहुँचा करते हैं। विशेष भाव आगे लिखे जायँगे। *'तुरत'* भेजना भी अतिसम्मान है। इससे जनाया कि सर्वप्रथम निमन्त्रण इन्हींको भेजा]। (घ) *'तब जनक बोलाए'* अर्थात् जब इधर दोनों भाई गुरुचरणोंमें प्रणाम कर चुके तब उधर राजाने श्रीशतानन्दजीको बुलाया। शतानन्दजी कितनी देरमें आये वह समय यहाँ दिखाते हैं। श्रीरामजी प्रणाम करके अपने आसनपर गये। शतानन्दजी ठीक उसी समय बुलाये गये, उनको राजाने विश्वामित्रजीके पास जो संदेसा लेकर जानेको कहा उसके समझाने-कहनेमें और वहाँसे मुनिके पास आनेतक जो समय लगा उतनी ही बीच पड़ा। (वि० त्रि० लिखते हैं कि राजा लोग रंगभूमिमें पहलेसे ही आकर डटे हुए हैं। जनकजी धनुष-यज्ञकी प्रक्रिया रोके हुए हैं, इस प्रतीक्षामें थे कि जब ये लोग नित्यक्रियासे खाली हो जायँ तब उनको बुलाया जाय और उनके आ जानेपर धनुषयज्ञ आरम्भ हो। अतः खाली होनेका समाचार पानेपर शतानन्दजीको भेजा।)

टिप्पणी—३ (क)—*'जनक बिनय तिन्ह आइ सुनाई'* इति। बड़ेको बुलाना धृष्टता है एवं अपराध है, यथा—*'अपराध छमिबो बोलि पठए बहुत हौं ढीठ्यो दई।'* इसीसे विनय सुनाना कहते हैं। (ख)—*'हरषे बोलि लिये दोउ भाई'* इति। विनय सुनकर उनका भाव समझकर हर्षित हुए। दोनों भाइयोंको बुलाया, इससे पाया गया कि दोनों भाइयोंसहित पधारनेकी प्रार्थना है। (ग)—*'बोलि लिये'* से पाया गया कि दोनों भाई गुरुको प्रणाम करके अपने आसनपर चले गये थे। आसन वहाँसे पृथक् था, क्योंकि यदि वहीं होता तो शतानन्दजीके आते ही दोनोंने प्रणाम किया होता। इससे निश्चय है कि अन्यत्र आसन था। पूजा आदिके समय पास बैठनेसे विक्षेप होता, इसीसे वहाँ न रहे, प्रणाम करके चले आये। पुनः *'बोलि लिये'* से यह भी सूचित होता है कि इतनी दूरीपर थे कि मुनिने वहींसे स्वयं बुला लिया, वहाँतक शब्द पहुँच सकता था।

दो०—सतानंद पद बंदि प्रभु बैठे गुर पहिं जाइ।
चलहु तात मुनि कहेउ तब पठवा* जनक बोलाइ॥ २३९॥

अर्थ—श्रीशतानन्दजीके चरणोंमें प्रणाम करके प्रभु गुरुजीके पास जा बैठे। तब मुनिने कहा—हे तात! चलो, राजा जनकने बुला भेजा है॥ २३९॥

टिप्पणी—१ (क) जब श्रीजनकजी विश्वामित्रजीसे मिलने गये थे तब शतानन्दादि ब्राह्मण भी साथमें थे। पर श्रीरामजीने उनको प्रणाम न किया था, यथा—*'उठे सकल जब रघुपति आए। बिश्वामित्र निकट बैठाए॥'* और यहाँ उनको प्रणाम किया। कारण कि तब उनको जानते न थे, बिना जाने वन्दना कैसे करते? बिना जाने वन्दनाकी विधि नहीं है, यथा— '**जपन्तं जलमध्यस्थं दूरस्थं धनगर्वितम्। अश्वारूढमजानन्तं षड्विप्रा न वन्द्यते॥**' अर्थात् जप करते हुए, जलके बीचमें स्थित, दूरस्थित, धनाभिमानी, अश्वारूढ़ और जिनको जानते नहीं, ऐसोंकी वन्दना नहीं करनी चाहिये। दूसरे, वहाँ बहुत ब्राह्मण थे, किसको प्रणाम करें किसको छोड़ें, यहाँ शतानन्दजी अकेले हैं, इसीसे उनको प्रणाम किया। (तीसरे, वहाँ तो सब स्वयं आपका तेज देखकर उठ खड़े हुए थे तब उनको प्रणाम कैसे करते?) (ख) ऊपर कहा कि *'जनक बिनय तिन्ह आइ सुनाई॥'* क्या विनय थी यह वहाँ न कहा था, यहाँ उसे खोला कि जनकने दोनों भाइयोंसहित

* पठए—रा० प०, वि० त्रि०। पठयउ—गौड़जी।

बुलाया है। (ग) *'बैठे गुर पहिं जाइ'* से पाया गया कि गुरुजी बैठे हुए हैं, नित्यक्रियासे निवृत्त हो चुके हैं तब शतानन्दजी आये। गुरुपदवन्दन हो चुका है, इसीसे जाकर बैठ गये। (घ) *'मुनि कहेउ तब'* अर्थात् जब श्रीरामजी बैठ गये तब कहा, क्योंकि यदि बिना बैठे ही चलनेको कहते तो रामजी बैठते नहीं, इसीसे बैठ जानेपर कहा (इससे मुनिका अतिशय प्रेम और वात्सल्य प्रदर्शित होता है)।

सीय स्वयंबरु देखिअ जाई। ईसु काहि धों देइ बड़ाई॥ १॥
लषन कहा जस भाजनु सोई। नाथ कृपा तव जापर होई॥ २॥
हरषे मुनि सब सुनि बर बानी। दीन्हि असीस सबहिं सुख मानी॥ ३॥

अर्थ—चलकर श्रीसीताजीका स्वयंवर देखा जाय, देखें, 'ईश' किसको बड़ाई देते हैं॥ १॥ लक्ष्मणजीने कहा कि 'हे नाथ! जिसपर आपकी कृपा होगी वही यशका पात्र होगा'॥ २॥ लक्ष्मणजीकी सुन्दर श्रेष्ठ वाणी सुनकर सब मुनि प्रसन्न हुए और सभीने सुख मानकर आशीर्वाद दिया॥ ३॥

टिप्पणी—१ (क) *'सीय स्वयंबरु'* और *'काहि ''''' बड़ाई'* से जनाते हैं कि इस स्वयंवरमें श्रीसीताजीकी प्राप्ति है और बड़ाईकी भी। अर्थात् विश्वविजय है और यश भी है। यथा—*'बिस्वबिजय जसु जानकि पाई। आए भवन ब्याहि सब भाई॥'* (३५७। ५) *'कुँअरि मनोहर बिजय बड़ि कीरति अति कमनीय। पावनिहार बिरंचि जनु रचेउ न धनुदमनीय॥'* (२५१) (ख) ☞ *'सीय स्वयंबरु'* पद देकर यहाँसे श्रीसीताजीके स्वयंवरकी कथा जनायी, क्योंकि यह (सीयस्वयंवर) कथा मानससरिताकी छबि है, यथा—*'सीय स्वयंबरु कथा सुहाई। सरित सुहावनि सो छबि छाई॥'* (४१। १) (ग) *'ईसु काहि धों देइ बड़ाई'* इति। विश्वामित्रजी जानते हैं कि रामजी धनुष तोड़ेंगे, तब भी *'काहि धों देइ'* संदिग्ध वचन उन्होंने कहे। इसके कई कारण हो सकते हैं—एक तो यह कि वे सुनना चाहते हैं कि हमारी बातका देखें क्या उत्तर देते हैं। दूसरे यह कि वे दोनों भाइयोंको चलते (प्रस्थान) समय मुनियोंसे आशीर्वाद दिलाना चाहते हैं जिसमें इनका मङ्गल हो और मुनियोंकी वाणी सफल हो; अतः संदिग्ध वचन कहे जिसमें लक्ष्मणजी हमारी बड़ाई करें और सब मुनि प्रसन्न हो जायँ। तीसरे यह कि ईश्वरकी इच्छा कोई जानता नहीं। 'ईश' का बड़ाई देना कहा, क्योंकि ईश (महादेवजी) का ही वह धनुष है। जिसका धनुष है वे जिसको चाहें बड़ाई दें। ['ईश' के दोनों अर्थ हैं—ईश्वर और शङ्करजी। यथा—'**वन्देऽहं तमशेषकारणपरं रामाख्यमीशं हरिम्**', *'भयउ ईस मन छोभु बिसेषी॥'* (८७। ४) पं० रामकुमारजीने दोनों अर्थोंके भाव लिखे हैं। श्रीगुरुसहायलालने भी दोनों अर्थोंके भाव लिखे हैं—(क) जाकर देखना चाहिये कि किसे ईश बड़ाई देते हैं अथवा (ख) विश्वामित्रजी त्रिकालज्ञ थे और प्रभुको पहिचान ही चुके थे, अतएव शतानन्दजीको देखकर गूढ़ अभिप्राययुक्त यह बोले कि सीता तो आप ही वर चुकी हैं, तथापि धनुर्भङ्ग, परशुराम-गर्वविमोचनादि बड़ाई बाकी रही सो देखना चाहिये कि ईश किसे देता है। उन्होंने प्रथम अर्थ यह लिखा है कि 'सीताके परतन्त्र-स्वयंवरको देखना चाहिये, क्योंकि कदापि ईश्वर बड़ाई ही देवे।' यहाँ *'काहि धों'* का अर्थ 'कदापि' किया है। अथवा, (घ) 'परम' मनोहर देखकर सीताजी आप बर लेती हैं अथवा 'ईशका' (शम्भुवाला जो धनुष है वह) स्वतः बड़ाई देता है, यह जानकर देखना चाहिये। यह भाव *'ईसु काहि'* को तोड़कर कहा है। प्रायः अन्य सभी टीकाकारोंने 'ईश' का अर्थ 'ईश्वर' किया है। श्रीकान्तशरणजी लिखते हैं कि 'विष्णुभगवान्‌के द्वारा जड़ हो जानेपर शिवजी स्वयं इसे नहीं लचा सके थे तो वे दूसरेसे कैसे तोड़वा सकते हैं?' संदिग्ध वचनके सम्बन्धमें गौड़जी कहते हैं कि 'विश्वामित्रजीकी वाणी श्लेषसे व्यञ्जित कर देती है कि आपको सीताजीने स्वयं वरण कर लिया है। अब बड़ाईकी बातमें मर्यादा रखनेके लिये *'धों'* कहकर संदेह प्रकट करते हैं।' पंजाबीजी लिखते हैं कि 'गोप्य रखने हेतु वा प्रभुको सर्वज्ञ जानकर संदिग्ध बात कही।']

पं० रामकुमारजी—१ *'लषन कहा जस भाजनु सोई।'''''* इति। लक्ष्मणजी बड़ी बुद्धिमानीसे बात कहते

हैं। यद्यपि वे जानते हैं श्रीरामजी धनुष तोड़ेंगे जैसा कि सूर्योदयके रूपकसे वे कह चुके हैं तथापि उन्होंने यह न कहा कि आपकी कृपासे रामजी धनुष तोड़ेंगे। कारण कि मुनिने धनुषके तोड़नेके सम्बन्धमें सन्देह रखा—*'ईसु काहि धौं देइ बड़ाई'* कहा, इसपर यदि वे निश्चयात्मक वचन कहते हैं कि रामजी तोड़ेंगे तो इनमें गुरुजीसे अधिक जानकारी पायी जाती, दूसरे लक्ष्मणजी यह भी जानते हैं कि विश्वामित्र निस्सन्देह जानते हैं कि रामजी ही धनुष तोड़ेंगे, यह जानते हुए भी जब वे यह कहते हैं कि ईश न जाने किसको बड़ाई दें तब हमारा यह कथन उचित न होगा कि रामजी तोड़ेंगे। अतः वैसा न कहकर कहा कि *'नाथ कृपा ……।'* तात्पर्य कि जब आपकी कृपा होगी तब ईश बड़ाई देंगे, यथा—*'मुनि प्रसाद बलि तात तुम्हारी। ईस अनेक करवरें टारी॥'* अर्थात् ईश्वरकी कृपाका हेतु ब्राह्मणकी कृपा है। ☞ देखिये विश्वामित्रने 'ईश' का बड़ाई देना कहा, पर लक्ष्मणजी ईशको पृथक् नहीं कहते। जिसपर आपकी कृपा होगी उसीको ईश बड़ाई देंगे, ऐसा कहनेसे ईश और गुरु पृथक् हो जाते हैं और गुरु साक्षात् ईश्वर हैं। बाहुकमें भी कहा है कि *'हित उपदेसको महेस मानौं गुरु कै।'* अतः इतना ही कहा कि *'नाथ कृपा तव जापर होई।'* (*'सोई'* से जनाया कि और कोई यश नहीं पा सकता। यशभाजन तो पहले ही आप *'सुफल मनोरथ होंहु तुम्हारे'* आशीर्वाद देकर निश्चित ही कर चुके।)

२ *'हरषे मुनि सब सुनि बर बानी॥'* इति। (क) ब्राह्मणकी प्रशंसा की इसीसे सब ब्राह्मण प्रसन्न हुए। स्तुति सुनकर सब देवता प्रसन्न होते हैं तब वर देते हैं, वैसे ही मुनियोंने प्रसन्न होकर वर दिया कि तुम दोनों भाई यशके भाजन हो। (ख) विश्वामित्र महामुनि हैं और सब मुनि हैं, सबमें विश्वामित्र श्रेष्ठ हैं, प्रधान हैं। वा विश्वामित्र सब मुनियोंके गुरु हैं इसीसे गुरुकी प्रशंसा सुनकर सब मुनि सुखी हुए। ☞ यहाँ यह भी दिखाते हैं कि ईशकी कृपाका कारण गुरु (विश्वामित्र) की कृपा है और विश्वामित्रकी कृपाका कारण सब ब्राह्मणोंकी कृपा है। (रा० प्र० कारका मत है कि गुरुमें विश्वास देखकर सब प्रसन्न और सुखी हुए।) वाणीको 'वर' विशेषण दिया, क्योंकि वह गुरुभक्ति और रामभक्तिसे ओतप्रोत है।

नोट—१ ☞ सब मुनियोंने आशीर्वाद दिया पर विश्वामित्रजीने न तो आशीर्वाद दिया और न कुछ कहा ही। यह क्यों? इसलिये कि अपनी स्तुति सुनकर प्रसन्न होकर आशीर्वाद देने लगते तो यह बात उचित न होती, उनका बोलना अशोभित होता। इसीसे न तो उनका हर्ष कहा और न आशीर्वाद ही। संतस्वभाव है कि *'निज गुन श्रवन सुनत सकुचाहीं।'* (पं० रामकुमारजी)

☞ *'बर बानी'* इति। वाणीमें क्या श्रेष्ठता है?—(क) पं० रामकुमारजीका मत है कि एक तो इसमें ब्राह्मणकी प्रशंसा है इससे वाणीको 'वर' कहा, दूसरे इस वाणीसे सब मुनि प्रसन्न हुए और मारे हर्षके सबने आशीर्वाद दिया, यह वाणीकी श्रेष्ठता है। अर्थात् जिससे महात्माओंको सुख हो वह वाणी श्रेष्ठ ही है। (ख) बैजनाथजीके मतानुसार "देशकाल समय-सुहावनी, थोड़े अक्षर और अर्थ बड़े विलक्षण, चातुरी हास्यरसयुक्त, श्रवणरोचक, गूढ़ आशय, स्नेहवर्द्धक" होनेसे इसे *'बर बानी'* कहा। लक्ष्मणजीके कथनका तात्पर्य यह है कि 'हमारे ईश तो आप ही हैं, आपहीका चाहा होगा। पुनः वाणीकी श्रेष्ठता यह है कि मुनिने जिस बातका निश्चय नहीं किया, उसी बातको युक्तिसे आपने निश्चित ही तो करा लिया। (ग) गौड़जी लिखते हैं कि विश्वामित्रजीकी वाणी तो श्लेषसे व्यञ्जित कर देती है कि आपको सीताजीने स्वयं वरण कर लिया है।—*'सीय स्वयंबरु ……।'* अब बड़ाईकी बातमें मर्यादा रखनेके लिये *'धौं'* कहकर सन्देह प्रकट करते हैं। इसपर एक प्रकारसे सन्देहनिवारणार्थ लक्ष्मणजी अपनी वर-वाणीसे यह व्यञ्जित करते हैं कि नाथ जिसपर आपकी कृपा होगी वही यशस्वी होगा। श्रीरामजीपर आपकी कृपा है, इसलिये धनुर्भङ्गका यश उन्हींको मिलेगा। इस व्यञ्जितार्थपर ही सब मुनियोंको हर्ष होता है। और सभी सुखी हो आशीष देते हैं कि ऐसा ही हो (श्रीरघुनाथजीको ही यश मिले)।

नोट—२ *'ईसु काहि धौं देइ बड़ाई'* और *'जस भाजन ……'* दो असम वाक्यार्थकी एकतामें 'प्रथम निदर्शना अलङ्कार' है—(वीरकवि)।

पुनि मुनिबृंद समेत कृपाला। देखन चले धनुष मखसाला॥ ४॥
रंगभूमि आए दोउ भाई। असि सुधि सब पुरबासिन्ह पाई॥ ५॥
चले सकल गृह काज बिसारी। बाल* जुवान जरठ नर नारी॥ ६॥

अर्थ—फिर मुनियोंकी मण्डलीसहित कृपालु श्रीरघुनाथजी धनुषयज्ञशाला देखने चले॥ ५॥ 'दोनों भाई रंगभूमिमें आये हैं', यह खबर सब पुरवासियोंने पायी॥ ५॥ बालक, जवान, बूढ़े, स्त्री और पुरुष सभी घर और घरके काम-काज भुलाकर चल पड़े॥ ६॥

टिप्पणी—१ (क) *'पुनि'* अर्थात् आशीर्वाद पानेके अनन्तर। दूसरा भाव *'पुनि'* का यह है कि एक बार नगरदर्शनसमय मखशाला देख चुके हैं अब पुनः देखने चले। प्रथम बार 'बालकवृन्द समेत' देखा और अब 'मुनिबृन्द समेत' देखने चले। (ख) *'मुनिबृंद समेत कृपाला'* इति। यहाँ शृङ्गार और वीररसका प्रसंग है, इससे मुनिको प्रधान न रखा। (बैजनाथजी) पुनः श्रीरामजीको प्रधान और मुनियोंको गौण रखनेका कारण यह भी है कि राजाओंका स्वयंवर है, यहाँ धनुष तोड़ना है जो राजाओंका ही काम है। (ग)—*'कृपाला'* का भाव कि सबको सुख देनेके लिये सबपर कृपा करके धनुषमखशाला देखने चले, सबको संग लेकर चले, जैसे बालकोंपर कृपा करके धनुषमखशाला देखते रहे थे, यथा—*'भगति हेतु सोइ दीन दयाला। चितवत चकित धनुष मखसाला॥'* पुनः, धनुष तोड़कर सबको सुख देंगे इससे *'कृपाला'* कहा। (घ) —*'देखन चले धनुष मखसाला'* इति। धनुष देखनेको नहीं कहते, क्योंकि धनुषमें कोई विचित्रता नहीं है, जो देखने जायँ। वह भारीभर कहा जाता है, सो ये भारीपनको कुछ समझते ही नहीं हैं, इनके लिये तो यह पुराना सड़ा हुआ ही है, यथा—*'लखन कहा हँसि हमरे जाना। सुनहु देव सब धनुष समाना॥ का छति लाभ जून धनु तोरे।'* इत्यादि। धनुषमखशाला देखने चले क्योंकि वह बड़ी ही विचित्र बनी है, उसकी रचना देखने योग्य है। इसी तरह जब नगरदर्शनको गये, तब भी धनुष नहीं देखा, केवल मखशालाकी रुचिर रचना देखते रहे। अब मुनियोंको दिखानेके लिये साथ लेकर जा रहे हैं, उन्होंने अभी नहीं देखा है, इससे भी *'कृपाला'* कहा, क्योंकि आप न जाते तो मुनि भी क्यों जाते? (स्वयंवर देखने नहीं चले, स्वयंवर तो इनका होगा, देखेंगे और लोग।) (वि० त्रि०)

टिप्पणी—२ (क) *'रंगभूमि आए'* कहा। रंगभूमिमें गये कहना था सो न कहा, यह क्यों? इसलिये कि दोनों भाइयोंसहित मुनि कोटमें टिके हैं और कोट नगरसे बाहर है। इसीसे पुरवासी 'आये' कहते हैं कि ये वचन पुरवासियोंके हैं। कोटसे पुरमें आये हैं। पुरमें ही रंगभूमि है; यथा—*'पुर पूरुब दिसि गे दोउ भाई। जहँ धनुष मखभूमि बनाई॥'* (ख)—*'असि सुधि'* कहनेका भाव कि रामजी अभी चले हैं, वहाँतक पहुँचे नहीं, पुरमें आ गये हैं, रंगभूमिके लिये आये हैं, किसीने हर्षके मारे कह दिया कि दोनों भाई रंगभूमिमें आ गये। (ग)—*'सब पुरबासिन्ह पाई'* से जनाया कि दोनों भाइयोंके आनेकी खबर सब लगाये रहे थे, इसीसे सबको ही एकदम और इतनी जल्दी खबर मिल गयी। खबर पाते ही मारे आनन्दके एक-दूसरेको खबर देते गये, क्षणभरमें सबको खबर मिल गयी। (घ) *'सुधि पाई'* कहनेका भाव कि खबर क्या है मानो नवनिधि पदार्थ है जो पा गये। (ङ) जब सब राजा रंगभूमिमें आये तब पुरवासी नहीं गये और दोनों भाइयोंका आना सुनते ही चल पड़े। इससे जनाया कि किसीको राजाओंके दर्शनकी लालसा नहीं है, उनसे अधिक सुन्दर तो स्वयं मिथिलापुरवासी हैं। उन्हें इन दोनोंके दर्शनकी लालसा है, इनकी शोभापर वे आशिक हैं, मुग्ध हैं; यथा—*'निरखि सहज सुंदर दोउ भाई। होहिं सुखी लोचन फल पाई॥'* (२२०। ३) सब-के-सब दोनोंके सौन्दर्यके वशीभूत हो गये हैं, यथा—*'जिन्ह निज रूप मोहनी डारी। कीन्हे स्वबस नगर नर नारी॥'* (२२९। ५) *'पुरबासिन्ह देखे दोउ भाई। नरभूषन लोचन सुखदाई॥'* (२४१। ८)

* बालक जुवा—रा० प्र०। शं० चौ० लिखते हैं कि यह पंक्ति १७०४ वाली पोथीमें नहीं है। बाल जुवान जरठ—१६६१, १७२१, १७६२, छ०, को० रा०।

इसीसे *'दोउ भाई'* कहा। [☞यहाँ केवल शृङ्गार है, इसलिये यहाँ मुनिका भी नाम न दिया, केवल *'आए दोउ भाई'* कहा—(बैजनाथजी)]

टिप्पणी—३ (क) *'चले सकल गृह'* इति। यहाँ *'चले'* कहा, क्योंकि बालक, वृद्ध, स्त्री, पुरुष सभी घर छोड़-छोड़ देखने जा रहे हैं, वृद्ध, बच्चे और सब स्त्रियाँ दौड़ नहीं सकतीं, इसलिये दौड़ना न कहकर चलना कहा। जहाँ बालक और वृद्ध साथ नहीं होते वहाँ *'धावा वा धावना'* कहते हैं, यथा—*'देखन नगर भूपसुत आए। समाचार पुरबासिन्ह पाए॥ धाए धाम काम सब त्यागी। मनहुँ रंक निधि लूटन लागी॥'* (२२०। १-२)—(यहाँ बालक-वृद्ध संग नहीं हैं), पुनः यथा—*'जे जैसेहिं तैसेहिं उठि धावहिं। बाल बृद्ध कहँ संग न लावहिं॥'* (७। ३) और यहाँ *'बाल जुवान जरठ नर नारी।'* सब साथ हैं। इसी तरह जहाँ-जहाँ बाल, वृद्ध साथ हैं वहाँ-वहाँ चलना कहा है, यथा—*'सुनि सब बाल बृद्ध नर नारी। चलहिं तुरत गृह काज बिसारी॥'* (२। ११४) बालक और बूढ़ोंको टिकाये चलना पड़ता है, उनके साथ दौड़ नहीं सकते। (दूसरे, इस समय यह भी डर नहीं है कि जल्दी लौट जायेंगे, अब तो धनुषयज्ञकी पूर्तितक रहेंगे)। (ख) *'सकल'* से जनाया कि कोई भी घरपर रह न गया। *'सब'* का खबर पाना कहा है इसीसे सबका चलना कहा।*'असि सुधि सब पुरबासिन्ह पाई'*; अतः *'चले सकल।'* (ग)*'गृह काज बिसारी'* अर्थात् तनसे कामोंको त्यागा और मनसे बिसार भी दिया, यह नहीं है कि मन उनमें लगा हो, मन तो भाइयोंमें लगा है। नगरदर्शनके समय तो सब *'धाए धाम काम सब त्यागी'*, केवल गृहकार्यको त्यागकर दौड़ पड़े थे और अबकी तो गृहकार्यकी सुध भी भुला दी। (घ) *'बाल जुवान जरठ नर नारी'*, यहाँ बाल और जरठके बीचमें *'जुवान'* को रखकर जनाया कि जो जवान हैं वे बालकों और बूढ़ोंको संगमें लिये हैं। (वा, तीनों अवस्थाओंके क्रमसे कहा। इससे सभी अवस्थाओंके लोगोंका जाना कहा।)

नोट—१ ☞यहाँ दिखाते हैं कि जब भीतर-बाहर दोनोंसे त्याग हो तब रामजी मिलते हैं। 'बिसराना' मनका धर्म है और 'चलना' शरीरका है। इन्होंने गृहकाजको मन और तन दोनोंसे त्याग दिया। २—यहाँ रीति भी दिखाते हैं। या यों कहिये कि यहाँ पुरवासियोंके चलनेकी तसवीर दिखाते हैं कि किस प्रकारसे लोग चले जा रहे हैं। जवान पुरुष एक हाथसे लड़कोंको और दूसरेसे बूढ़ोंको सँभाले और इसी तरह स्त्रियाँ बच्चों और बुढ़ियोंको सँभाले चल रही हैं, क्योंकि भीड़ बहुत है। (पं० रा० कु०)

देखी* जनक भीर भै भारी। सुचि सेवक सब लिये हँकारी॥ ७॥
तुरत सकल लोगन्ह पहिं जाहू। आसन उचित देहु सब काहू॥ ८॥
दो०—कहि मृदु बचन बिनीत तिन्ह बैठारे नर नारि।
उत्तम मध्यम नीच लघु निज निज थल† अनुहारि॥ २४०॥

अर्थ—(जब) श्रीजनकमहाराजने देखा कि भारी भीड़ हो गयी है। (तब) उन्होंने सब विश्वासपात्र और अपने धर्मपर आरूढ़ सेवकोंको बुलवा लिया॥ ७॥ (और आज्ञा दी कि तुमलोग) तुरत अभी सब लोगोंके पास जाओ और सबोंको उचित आसन दो। अर्थात् जो स्थान जिसके योग्य हो उसपर उसको बिठा दो॥ ८॥ उन्होंने कोमल, विनम्र वचन कहकर उत्तम, मध्यम, नीच और लघु सभी स्त्री-पुरुषोंको उनके-उनके योग्य स्थानोंपर बैठाया॥ २४०॥

टिप्पणी—१ (क) *'भीर भै भारी'* इति। भारी भीड़से जनाया कि जब राजा लोग गये तब भीड़ साधारण थी, पर जब सब पुरवासी एकदम एक साथ आ गये तब भीड़ भारी हो गयी, क्योंकि पुरवासी कई लाख थे। मिथिलानगर बड़ा भारी नगर था। (ख) *'देखी जनक'* से ज्ञात होता है कि राजा अपना

* देखे—रा० प्र०। † सब—१७०४, रा० प्र०।

काम स्वयं भी देखते हैं, केवल दूसरेके भरोसे नहीं रहते हैं। दूसरे इससे उनका निकट ही होना पाया जाता है। ऐसी जगहपर उपस्थित हैं कि जहाँसे सब तरफकी देख-भाल कर सकते हैं। (ग)—'**सुचि सेवक**' अर्थात् ऐसे नहीं हैं कि किसीसे द्रव्य लेकर अथवा संकोचसे या अपना मित्र समझकर उच्चासनपर बिठा दें, वरंच शुचि हैं अर्थात् अपने धर्ममें दृढ़ हैं; यथा—'***अस बिचारि सुचि सेवक बोले। जे सपनेहु निज धरम न डोले॥***' (२। १८६) (शुचि=किसी प्रकार भी आज्ञासे नहीं टलनेवाले, अपने धर्मपर यथार्थ आरूढ़।=मन, कर्म, वचनसे आज्ञामें तत्पर रहनेवाले, विश्वासपात्र, सच्चरित्र, सदाचारी और सुचतुर) (घ)—'**सेवक सब**' इति। '**सब**' कहनेका भाव कि जब राजाओंको बिठाया तब सब सेवक नहीं लगे थे और इस समय सभी पुरवासी आ गये, भारी भीड़ है जिसका सँभाल थोड़े सेवकोंसे नहीं हो सकेगा इससे सबको बुलाया।

टिप्पणी—२ (क) '***तुरत जाहू***' कहनेका भाव कि किञ्चित् भी विलम्ब हो जानेसे सब लोग अनुचित आसनोंपर बैठ जायँगे। जहा-तहाँ पहले ही बैठ गये तो वहाँसे उन्हें उठाना अनुचित होगा क्योंकि इससे उनका अपमान होगा। अतः तुरत जानेको कहा कि सब उचित स्थानोंपर बैठें। (ख)—'***आसन उचित देहु***……' से पाया गया कि रंगभूमिमें सबके लिये उचित आसन बने हुए हैं। सब सेवक जानते हैं कि कौन आसन किसके लिये है; इसीसे उनको यह नहीं समझाना पड़ा कि कौन आसन किसको देना होगा। (ग) इतना कहना काफी था कि तुरत सबको आसन दो, '***तुरत लोगन्ह पहिं जाहू***' कहनेका प्रयोजन ही क्या था? उत्तर यह है कि '***जाहू***' कहकर जनाया कि सब लोगोंके पास जाकर उनको आदरपूर्वक लिवा ले जाकर आसनोंपर बिठाओ। यह भाव दरसानेके लिये '***लोगन्ह पहिं जाहू***' कहा।

टिप्पणी—३ '***कहि मृदु बचन बिनीत***……' इति। (क) राजाकी आज्ञा है कि '***तुरत सकल लोगन्ह पहिं जाहू***……'; कवि अपनी लेखनीसे '*तुरत*' का स्वरूप दिखा रहे हैं कि हुक्म पाते ही '***तुरत बैठारे नर नारि।***' राजाने आज्ञा दी थी कि '***आसन उचित देहु सब काहू***' सो यहाँ '***उत्तम मध्यम नीच लघु निज निज थल अनुहारि***' में उचित आसन देना लिखते हैं। उत्तम स्थलमें ब्राह्मणोंको बैठाया, मध्यममें क्षत्रियोंको, नीचमें वैश्यको और लघुमें शूद्रको बैठाया। नर और नारियों—दोनोंके साथ उत्तम, मध्यम, नीच, लघुका सम्बन्ध है। (ख)—नगर-दर्शनके समय जब बालक रंगभूमि दिखा रहे थे तब वहाँ कहा था कि '***जहँ बैठे देखहिं सब नारी। जथा जोग निज कुल अनुहारी॥***' (२२४। ७) अर्थात् वहाँ कुलके अनुसार स्त्रियोंके बैठनेके स्थान कहे थे और यहाँ बैठाते समय कहते हैं कि '***निज निज थल अनुहारि***' बिठाया; इससे जनाया कि कुलके अनुकूल स्थल बने हैं। (ग) '***कहि मृदु बचन बिनीत***……' से यहाँ सेवकोंकी शुचिता दिखाते हैं कि उनके वचन मृदु हैं, तनसे वे विनीत वा विनम्र हैं और मनमें शुचि हैं। अर्थात् ये मन, कर्म और वचन तीनोंसे सुशोभित हैं। ['विनीत' अर्थात् जो स्त्री-पुरुष जिस सम्बोधनके योग्य था उसको वैसा ही कहकर बैठाया। (पाँड़ेजी) '***निज निज थल अनुहारि***' बैठानेमें 'प्रथम सम अलंकार' है।]

राजकुँअर तेहि अवसर आए। मनहु मनोहरता तन छाए॥ १॥
गुनसागर नागर बर बीरा। सुंदर स्यामल गौर सरीरा॥ २॥
राजसमाज बिराजत रूरे। उड़गन महुँ जनु जुग बिधु पूरे॥ ३॥

शब्दार्थ—रूरे=अत्यन्त सुन्दर और प्रकाशमान।=विशेषतर शोभा करते हुए। अर्थात् राजसभाकी विशेष शोभा इनसे हो गयी—(वै०, पां०)।

अर्थ—उसी अवसरपर (जैसे ही सब बैठ गये) दोनों राजकुँअर (रंगभूमिमें) आये. (ऐसा मालूम होता है) मानो साक्षात् मनोहरताको अपने तनभरमें छा लिया (बसा लिया) है॥ १॥ वे गुणोंके समुद्र, चतुर और श्रेष्ठ वीर हैं। उनके श्यामल और गोरे सुन्दर शरीर हैं॥ २॥ सुन्दर दोनों भाई राजसभामें ऐसे शोभायमान हैं मानो तारागणके मध्य दो पूर्णचन्द्र विराजमान हैं॥ ३॥

टिप्पणी—१ पं० रामकुमारजी—'***राजकुँअर तेहि अवसर आए।***……' इति। (क) जनकमहाराजने

विश्वामित्रजीको सबसे प्रथम बुलाया पर वे दोनों भाइयोंसहित सबसे पीछे आये। इसीसे जब सब लोग बैठ गये तब दोनों राजकुमारोंका आगमन लिखते हैं। सब पुरवासी तथा समस्त राजसमाजके अपने-अपने स्थानपर बैठ जानेपर आनेके कारण ये हैं कि एक तो यदि पुरवासियोंके बैठ जानेके पूर्व आते तो समस्त पुरवासी सङ्गमें लग जाते और भारी भीड़ है, उसमें बहुत तकलीफ (कष्ट) होती। दूसरे, यदि कहो कि चाहे वे प्रथम ही आ जाते चाहे पीछे उनके लिये दोनों मौके अच्छे थे, कोई कष्ट न होता, श्रीजनक-महाराजने तो उचित प्रबन्ध उनके लिये कर ही रखा होगा तो उसका उत्तर यह है कि 'जनकमहाराजका मुनिको प्रथम बुलाना और सब प्रबन्ध कर देना योग्य ही था, पर मुनि कृपालु हैं वे पीछे आये जिसमें सबोंको अपनी जगहसे दर्शन हो जायँ, राजा और मुनि दोनों ही अवसरके जानकार हैं—सबसे प्रथम बुलाया यह राजाकी जानकारी है और सबसे पीछे आये यह मुनिकी जानकारी है।' (ख) यहाँ शोभाका प्रकरण है, इसीसे शोभासूचक *'राजकुँअर'* पद दिया। *'आए'* और *'छाए'* बहुवचन हैं। ये शब्द दोनों भाइयोंके लिये आये हैं। (ग) *'मनोहरता तन छाए'*—अर्थात् शरीरके चारों ओर शोभा फैल रही है। भाव कि और लोगोंके शरीरमें आभूषण और वस्त्रसे शोभा आती है और इनके तनमें स्वाभाविक ही शोभा छा रही है। मनोहरता ही इनका भूषण बन गयी है। आगे भी कहेंगे—*'नखसिख मंजु महाछबि छाए।'* पुनः, भाव कि बाह्येन्द्रियोंमें नेत्र प्रबल हैं और भीतरकी इन्द्रियोंमें मन प्रबल है सो इन दोनोंको खींच लेते हैं। छाए=निवास दिया है। वीरकविजीके मतसे यहाँ 'सिद्धविषया हेतूत्प्रेक्षा' है।

टिप्पणी—२ (क) *'गुनसागर'* इति। तनकी शोभा कहकर अब गुणोंकी शोभा कहते हैं, क्योंकि गुण होना भी तनकी शोभा है। गुणसागर और नागर हैं, दोनोंको आगे चरितार्थ करेंगे—*'बिनय सील करुना गुन सागर। जयति बचन रचना अति नागर॥'* (२८५। ३) गुणोंकी थाह नहीं, अतः सागर कहा। (ख) *'बर बीरा'* का भाव कि और राजा वीर हैं, ये 'वर' वीर हैं। पुनः, वीरोंके समाजमें धनुष तोड़ा इससे वीर कहा और जो काम वीरोंसे न हुआ वह इन्होंने कर दिया, इससे *'बर बीरा'* कहा। पुनः, (ग) *'गुनसागर, नागर'* और *'बर बीरा'* इन विशेषणोंको आगे चरितार्थ करेंगे। ये तीनों भविष्यमें होनेवाले विशेषण हैं, इसीसे उन्हें यहाँ प्रथम सूक्ष्म रीतिसे कह दिये। अनेक रूप दिखाये हैं इससे गुणसागर कहते हैं, यथा उत्तरकाण्डमें *'अमित रूप प्रगटे तेहि काला। जथाजोग मिले सबहि कृपाला॥ एहि बिधि सबहि सुखी करि रामा। आगे चले सील गुन धामा॥'* में अमित रूप प्रकट करनेसे गुणसागर कहा। परशुरामका गर्व बड़ी चतुराईसे चूर किया, बात-ही-बातसे। अतः परशुरामजीसे वार्ता करनेमें नागर कहा। और धनुष तोड़नेसे एवं सबको मूर्तिमान् वीररस देख पड़नेसे *'बर बीरा'* कहा। यथा—*'देखहिं भूप महा रनधीरा। मनहु बीर रस धरे सरीरा॥'* [बहुत बड़े गुणीमें भी भद्दापन देखा जाता है, अतः उसके निवारणार्थ *'नागर'* कहा। सुन्दरता, गुणबाहुल्य और शौर्य तीनों इनमें एकत्र देखे जाते हैं अतः *'बर बीरा'* कहा। (वि० त्रि०)]

नोट—१ बैजनाथजी लिखते हैं कि 'यहाँ *'बर बीरा'* कहकर (त्याग, दया, विद्या, पराक्रम और धर्म—इन) पाँचों वीरताओंसे परिपूर्ण सूचित किया है।' और पंजाबीजी लिखते हैं कि 'गुणसागर अर्थात् क्षमा-दयादि गुण अपार हैं। केवल सतोगुणी ही नहीं हैं, यह जनानेके लिये नागर कहा। अर्थात् व्यवहारमें भी बड़े चतुर हैं। पुनः शूरवीर हैं, पर वीर कठोर होते हैं, ये कठोर नहीं हैं, परम सुन्दर हैं।'

नोट—२ *'सुंदर स्यामल गौर सरीरा'* इति। यहाँतक दोनों भाइयोंके सब विशेषण एक ही हैं। सब गुण दोनों भाइयोंमें हैं, केवल रंगमें भेद है, इसलिये रंग पृथक्-पृथक् कहे। (पं० रा० कु०)

टिप्पणी—३ *'राजसमाज बिराजत रूरे।'* इति। (क) तनकी और गुणकी सुन्दरता तथा वीरताकी शोभा कहकर अब तेजकी शोभा कहते हैं। रूप, गुण, चतुरता और वीरता सभी प्रकार राजाओंसे अधिक हैं। कितने अधिक हैं, यह *'उडगन महुँ जनु जुग बिधु पूरे'* से दिखाते हैं। अर्थात् जैसे तारागणसे चन्द्रमा अधिक है। (ख) *'राजसमाज बिराजत'* कहकर जनाया कि चारों ओर राजा लोग बैठे हैं, बीचमें ये दोनों सोह रहे हैं। विराजत (विशेष राजते वा सोहते हैं) का भाव कि शोभित तो पहले भी थे। अब राजसमाजमें विशेष

सुशोभित हैं। चन्द्रमामें बहुत अवगुण हैं, पर ये दोनों गुणसागर हैं। (गुणसागर प्रथम ही कह दिया इससे यहाँ *'बिमल बिधु'* न कहना पड़ा) (ग) पूर्व इनको सूर्य कहा, यथा—*'रबि निज उदय ब्याज रघुराया'* और आगे भी कहेंगे *'उदित उदय गिरि मंच पर रघुबर बाल पतंग',* पर यहाँ सूर्य न कहकर चन्द्रमाके समान कहते हैं। कारण कि अभी यहाँ धनुषरूपी रात्रि बनी हुई है, राजा सब तारे हैं। यथा—*'नृप सब नखत करहिं उजियारी। टारि न सकहिं चाप तम भारी॥'* इसीसे दोनों भाइयोंको उनके मध्यमें चन्द्रमासमान सुशोभित कहा, जैसे रात्रिमें चन्द्रमा तारोंसहित सुशोभित रहता है। *'राजसमाज बिराजत रूरे'* से सूचित करते हैं कि राजसमाज भी शोभित है पर ये विशेष शोभित हैं तथा यह कि जबतक धनुष नहीं टूटता तभीतक सब राजाओंकी शोभा बनी हुई है। तारागणोंकी शोभा चन्द्रमाके साथ बनी रहती है, सूर्योदयपर नहीं रहती, इसीसे दोनों भाइयोंको पूर्णचन्द्र कहा। जैसे चन्द्रमा तारापति है, वैसे ही ये सब राजाओंके पति हैं, क्योंकि चक्रवर्ती राजकुमार हैं। आगे श्रीरामजीका सूर्यसम उदय कहेंगे। सूर्योदयपर रात्रिका नाश है, वैसे ही रामजीके हाथों धनुषका नाश होगा। धनुषरूपी रात्रिके नाशपर राजसमाजरूपी तारागणकी शोभा न रहेगी और न वे ही रह जायँगे। रात्रि बीतनेपर दिन होता है वैसे ही रात्रिके रूपकके पीछे दिनका रूपक कहेंगे। [(घ) आकाशमें दो पूर्णचन्द्रका उदय कल्पनामात्र है अतः यहाँ 'अनुक्तविषयावस्तूत्प्रेक्षा' है।]

जिन्ह के* रही भावना जैसी। प्रभु मूरति तिन्ह देखी तैसी॥ ४॥

शब्दार्थ—**भावना**=भाव, यथा—*'एहि बिधि रहा जाहि जस भाऊ। तेहि तस देखेउ कोसलराऊ॥'*

अर्थ—जिनकी जैसी भावना थी उन्होंने प्रभुकी वैसी ही (अर्थात् अपनी भावनाके अनुकूल) मूर्ति देखी॥ ४॥

टिप्पणी—१ (क) ☞ यहाँ अनेक भावनावाले लोग एकत्रित हैं और रङ्गभूमिमें भावनानुकूल मूर्तिका देखना वर्णन करना मुनियोंकी रीति है; इसीसे गोसाईंजीने भी लिखा, क्योंकि उनकी प्रतिज्ञा है कि *'मुनिन्ह प्रथम हरिकीरति गाई। तेहि मग चलत सुगम मोहि भाई॥'* यह कहकर कि जिसकी जैसी भावना थी वैसी ही मूर्ति उसको देख पड़ी, फिर भावना और उसके अनुकूल मूर्तिका वर्णन करते हैं। एक ही रूपमें अनेक रूप दिखाये, इसीसे **'प्रभु'** कहा। दूसरेसे सबकी भावना और भावनानुकूल प्रभुकी मूर्ति न समझते-समझाते बनती, इसीसे ग्रन्थकार स्वयं ही उसे आगे स्पष्ट करके कहते हैं। (ख) *'मूरति'* के सम्बन्धसे *'भावना'* पद दिया—जैसी भावना तैसी मूर्ति। दोनों स्त्रीलिंग हैं। (ग) [एक श्रीरामजीको भिन्न-भिन्न रूपमें देखना 'प्रथम उल्लेख अलङ्कार' है। यही अलङ्कार प्रधानरूपसे *'जेहि बिधि रहा जाहि जस भाऊ॥'* (२४२। ८) पर्यन्त विद्यमान है। (वीर)]

नोट—१ 'श्रीरामजी तो शुद्ध सच्चिदानन्द एकरस निर्विकार स्वरूप हैं, वे अनेक रूप कैसे देख पड़े?' इसी शङ्काकी निवृत्ति *'जिन्ह के रही भावना जैसी। प्रभु मूरति तिन्ह देखी तैसी॥'* इस चौपाईसे की गयी है; जैसे कि हीरा या बल्लौरी शीशा आदि स्वयं स्वच्छ हैं परन्तु नील-पीतादि अनेक पदार्थोंके सान्निध्यसे नील-पीतादि भिन्न-भिन्न रङ्गोंके अनुभवमें आते हैं, वैसे ही जिनके-जिनके हृदयमें संस्कारवश जैसी-जैसी भावनाएँ होती हैं, उन्हीं भावनाओंके अनुसार भगवान् उनके अनुभवमें आते हैं; किसीने कहा भी है—**'मणिर्यथा विभागेन नीलपीतादिभिर्युतः। रूपभेदमवाप्नोति ध्यानभेदात्तथाच्युतः॥'**

नोट—२ भक्त-अभक्तके हृदयानुसार इनका विषम विहार होता है। यथा—*'जद्यपि सम नहिं राग न रोषू। गहहिं न पाप पूनु गुन दोषू॥ तदपि करहिं सम बिषम बिहारा। भगत अभगत हृदय अनुसारा॥'* अतः सबको उनके पृथक् भावनानुसार पृथक् रूपसे दर्शन दिये। तथा अपने अखिल रसामृत मूर्ति होनेका वैभव दिखलाया। (वि० त्रि०)

श्रीमान् लमगोड़ाजी 'वि० मा० हास्यरस' *'धनुषयज्ञ'* शीर्षकमें लिखते हैं कि 'मुझे शुरूहीसे धनुषयज्ञ

* के—ना० प्र०, गौड़जी, वि० त्रि०।

बहुत पसन्द रहा है। कविवर शेक्सपियरके 'जूलियस सीजर' नामक नाटकको उस वार्तावाले दृश्यकी बड़ी तारीफ की जाती है जो कैसियस आदिमें 'सार्डिस' के पड़ावपर (Camp near Sardi) हुई है। एक आलोचकने यहाँतक लिखा है कि इस दृश्यकी नकल बहुत-से लेखकोंने की है परंतु शेक्सपियरकी बराबरीका दृश्य आजतक कोई नहीं लिख सका। अँगरेजी साहित्यके देखते यह विचार बिलकुल ठीक है, पर संसारके साहित्य-मर्मज्ञोंसे हमारा अनुरोध है कि उस दृश्यकी धनुषयज्ञसे तुलना करें और फिर देखें कि राम, लक्ष्मण और परशुरामकी पारस्परिक वार्ताएँ साहित्यिक विचारसे भी कितनी अधिक ऊँची हैं। नैतिक विचारसे तो हम शेक्सपियरके दृश्यको पतनका ही दृश्य कहेंगे क्योंकि वहाँ एक बार फिर राजनीतिक मित्रताके कारण ब्रूटस-जैसे आदर्शवादीका आदर्शवाद मिट्टीमें मिला दिया गया और विजय हुई अपस्वार्थी कैसियसकी। तुलसीदासजीने अपने दृश्यमें सत्य एवं शीलहीकी विजय करायी है। अगर लक्ष्मणके हाथमें 'सत्य' का नश्तर है तो राम 'शील' के मरहमसे काम लेते हैं और दोनों ही विजयी होते हैं। दूसरा लुत्फ इस दृश्यमें अन्तर्नाटकीय रचना-कला (Inter Plot) का बड़ा ही सुन्दर प्रयोग होना है। शुरूहीमें अनेक प्रकारके द्रष्टाओंको उपस्थित किया गया है और तब मुख्य नाटकीय चरित्रोंको रङ्गमञ्चपर लाया गया है। जनकपुरके द्रष्टाओंको कुशल कविने इस तरह रखा है कि मुख्य घटनाकी नवों रसोंके दृष्टिकोणसे आलोचना हो सके। रामागमनके समय मानो उन नवों दर्पणोंपर उनका भिन्न-भिन्न प्रतिबिम्ब पड़ता है और उन प्रतिबिम्बोंका चित्रण कविने बड़ी ही सुन्दर भाषामें कर दिया है जो उसके इस पदसे प्रकट है—*'जिन्ह के रही भावना जैसी। प्रभु मूरति तिन्ह देखी तैसी॥'* कविका कमाल यह है कि परिस्थितियोंके प्रत्येक गहन परिवर्तन-के समय जो परिवर्तन उन विभिन्न द्रष्टाओंके भावोंमें होता है उसे बड़ी शीघ्रतासे थोड़े शब्दोंमें बतलाया जाता है। विशेष विचारणीय अवस्थाएँ वे हैं जो रामके धनुष-भंगके पूर्व और उसकी तैयारीके समय तथा परशुरामजीके आनेपर और परशुराम-लक्ष्मण-संवादके समय प्रकट हुई हैं। दृश्योंका ऐसा साक्षात्-कर्ता फिल्मकलाके बाहर शायद ही मिले। मैं तो यह समझता हूँ कि इतने विविध भावोंका एक ही दृश्यमें लाना फिल्मकलाकारके लिये भी कठिन है। तीसरे लुत्फका अनुभव पाठकोंको बहुत शीघ्र हो जायगा यदि वे इस दृश्यकी तुलना वाल्मीकिजीके धनुष-यज्ञसे करेंगे जहाँ नाटकीय कलाका पता ही नहीं है। वहाँ राजा लोग अलग-अलग दिनोंपर यथासमय लाये गये हैं, अपना बल प्रयोगकर चल दिये हैं और परशुरामजी तो बारातके लौटते समय राहमें मिले हैं। इसीलिये तो मैं कहा करता हूँ कि जब वाल्मीकिजीने तुलसीरूपमें अवतार लिया तो उन्होंने साहित्यिक तथा अन्य दृष्टिकोणसे अपनी पुरानी रामायणमें बहुधा सुधार ही किया। चौथा लुत्फ साहित्य-संसारके लिये और भी अनोखा है और वह यह है कि यहाँ एक ही दृश्यमें नाटकीय तथा महाकाव्यके गुणोंका बड़ी सुन्दरतासे सम्मिश्रण हुआ है। दृश्य आदिसे अन्ततक नाटकीय है, परन्तु कविने अपनी कलासे बीच-बीचमें ऐसे सुन्दर संकेत किये हैं कि आधिदैविक तथा आध्यात्मिक पक्षोंको भूला न जा सके। उदाहरणार्थ लक्ष्मणजीके *'सकहुँ मेरु मूलक इव तोरी।'* आदिवाले वाक्य, बन्दीगणोंका यह सूचित करना कि यह वह *'पुरारि कोदण्ड'* है जिसे रावण और बाणासुरतकने नहीं छुआ, कविका स्वयं यह बताना कि *'भूप सहस दस एकहि बारा। लगे उठावन टरहि न टारा॥'* सीता-सम्बन्धी वह रूपक जिसमें उन्हें लक्ष्मीसे भी बढ़कर बताया गया और अन्तमें *'राम रमापति'* वाली स्तुतिपर पहुँचकर तो यह स्पष्ट प्रतीत होने लगता है कि परशुरामजी अपना धनुष रामजीके हाथमें क्या दे रहे हैं, मानो भूत-युगका नेता आगामी युगके जगत्पतिको चार्ज दे रहा है। नैतिक उत्थान भी बिलकुल स्पष्ट है। परशुरामके नेतृत्वमें तो फिर भी पशु-बल ही प्रधान था। पर रामराज्यमें 'सत्य' एवं 'शील' की प्रधानता होगी जिसका विकास इसी दृश्यसे शुरू हो जाता है। रामराज्यके पताकेके बारेमें तुलसीजीने लिखा है—*'सत्य सील दृढ़ ध्वजा पताका'* आज भी संसार सोचे कि पशु-चिह्न एवं अन्य चिह्नोंवाला राजनीतिक ध्वजाओंका स्थान राम-राज्यकी ध्वजासे कितना नीचा है। सत्याग्रह भी अभी 'सत्य शीलाग्रह' नहीं बन गया।

अब आइये हास्य-रसपर। यदि नारदजी भौतिक प्रेमके उन्मादका खिलौना बन गये तो परशुराम भी क्रोधसे विवश दिखायी पड़ते हैं। एक ओर तपका अहंकार है तो दूसरी ओर पाशविक बलके विजयका। यहाँतक कि परशुरामजी श्रेणीयुद्धके अहंकारको बड़े गौरवसे यों व्यक्त करते हैं—*'बाल ब्रह्मचारी अति कोही। बिस्व बिदित छत्री कुल द्रोही॥'*

कविको यहाँ इनसे भी 'कुकड़ू कूँ' बुलवाना है और लुत्फ यह कि पशु-बलपर सत्य एवं शीलकी विजय केवल हास्यरसके आयुधोंसे हो जाय और युद्धकी आवश्यकता न हो। महाकाव्यके दृष्टिकोणसे तो यह काम उतना कठिन नहीं, परन्तु कविका कमाल यह है कि नाटकीय आनन्दका ह्रास न हो। हमारा दिल अन्ततक काँपता ही रहे और उसमें कभी सीताके प्रति करुणा, कभी राम-लक्ष्मणके प्रति सहानुभूति और कभी परशुरामसे भयवाली भावनाएँ ज्वारभाटेकी तरह चढ़ती-उतरती रहें।

महाकाव्यके दृष्टिकोणसे तो वस्तुतः यह सरल था कि रामका अवतार परशुरामसे बड़ा दिखाकर उनकी विजय करा दी जाय, परन्तु इसमें वह साहित्यिक आनन्द कहाँ, जो तुलसीकी इस कलामें है कि क्रोधको इतना उभार दिया जाय कि वह अपने जोरसे ही क्रोधीको बेकार कर दे और दूसरे पक्षकी विजय व्यंग एवं माधुर्यके मिश्रित व्यवहारसे ही हो जाय। यही तो तुलसीदासजीकी नाटकीय कलाका कमाल है।

तुलसीजीने इस गुत्थीके खोलनेका गुर बड़ी सुन्दरतासे शुरूहीमें दे दिया है। जब राम और लक्ष्मणने परशुरामको सिर नवाया, उस समय परशुरामजीके भाव क्या थे इसका प्रकटीकरण तुलसीजीने यों किया है—*'राम लखन दसरथ के ढोटा। दीन्ह असीस देखि भल जोटा॥ रामहि चितै रहे थकि लोचन। रूप अपार मार मद मोचन॥'*

सच है, सौन्दर्य-शक्ति बड़ी प्रबल होती है। जहाँ तलवार और फरसा काम नहीं देते वहाँ सौन्दर्य अपना प्रभाव जमाता है। फिर सौन्दर्य कैसा? ऐसे अपार रूपका जो स्वयं कामदेवके गर्वको मिटा दे, इस सौन्दर्यने परशुरामको ऐसा वशमें कर लिया कि उभय राजकुमारोंके प्रति उनका क्रोध केवल बाह्य रीतिपर प्रकट हुआ, आन्तरिक रीतिपर तो वे उनपर मुग्ध हो ही चुके थे और प्रेमबल पशुबलपर विजयी हो ही चुका था। इसीलिये तो परशुरामजी तरह-तरहके बहानोंसे क्रोधके अन्तिम प्रयोगसे रुक जाते थे। कहीं जनकसे यह कहकर कि इन्हें हटा दो, कहीं रामसे यह कहकर कि लक्ष्मणको रोक दो और अन्तमें विश्वामित्रसे *'केवल कौसिक सील तुम्हारे'* कहते हुए। यह मौलिक कारण परशुरामजीके 'कुकड़ूँ कूँ' बोलनेका कितना सुन्दर, कितना वास्तविक और कितना नाटकीय है, इसे साहित्यमर्मज्ञ स्वयं ही विचार कर लेंगे। हमारे घरोंमें इसी सिद्धान्तपर निर्भर निम्न पदको नित्य ही गाया जाता है—

'छोड़े न छूटे सियाजीको कंकन कैसे ताड़का मारेउ'? अधिक स्पष्टीकरणके लिये आप रोजकी घरेलू घटनाओंपर विचार करें कि जहाँ प्रेमका सम्बन्ध अधिक होता है वहाँ बहुधा पिता, माता तथा पति अपने पुत्र और स्त्रीपर क्रोध करते हुए सिर्फ दाँत पीसकर रह जाते हैं, पर हाथ नहीं उठता। क्रोध प्रकट करनेके लिये चाहे जैसे जोरोंमें कहें कि 'पटक दूँगा', 'जबान खींच लूँगा' आदि। नैतिक एवं आध्यात्मिक विचारसे **'सत्यम्'** तथा 'सुन्दरम्' मिलकर 'भयानक सत्य' से अधिक होता है क्योंकि उसके साथ 'शिव' की शक्ति भी आप ही आ जाती है।

देखहिं रूप* महारनधीरा। मनहु बीररसु धरे सरीरा॥५॥
डरे कुटिल नृप प्रभुहि निहारी। मनहु भयानक मूरति भारी॥६॥
रहे असुर छल छोनिप बेषा। तिन्ह प्रभु प्रगट काल सम देखा॥७॥
पुरबासिन्ह देखे दोउ भाई। नरभूषन लोचन सुखदाई॥८॥

* भागवतदासजी आदिमें 'भूप' पाठ है। १६६१ में 'रूप' है।

अर्थ—महारणधीर (राजा श्रीरामचन्द्रजीका) रूप (ऐसा) देख रहे हैं मानो साक्षात् वीररस शरीर धरे हुए विराजमान हो॥ ५॥ कुटिल राजा प्रभुको देखकर (ऐसा) डरे मानो बड़ी भारी भयानक (रसकी) मूर्ति हो॥ ६॥ असुर (दैत्य, दानव, राक्षस) जो छलसे राजाओंके कपट (बनावटी) वेषमें थे, उन्होंने प्रभुको प्रत्यक्ष काल-समान देखा॥ ७॥ पुरवासियोंने दोनों भाइयोंको मनुष्योंमें भूषणरूप और नेत्रोंको सुखदाता देखा॥ ८॥

टिप्पणी—१ (भा० दा० जीका पाठ '***भूप महारनधीरा***' है)। [(क) वीर रणधीर होते हैं, यथा—'***बिपुल बीर आए रनधीरा॥***' (२५१। ८) '***अपर महोदर आदिक बीरा। परे समर महि सब रनधीरा॥***' (६। ६१) सब राजा महारणधीर हैं, अर्थात् बड़े वीर हैं; इसीसे उनको 'वीररस मूर्तिमान्' सा देख पड़ा] इस प्रसंगको प्रथम वीर राजाओंसे ही उठाया। प्रथम राजाओंका ही देखना कहा; कारण कि मंचका क्रम ही ऐसा है कि प्रथम राजाओंके बैठनेके मंच हैं, उनके पीछे पुरवासियोंके हैं और इनके पीछे स्त्रियोंके धाम बने हैं। यथा—'***चहुँ दिसि कंचन मंच बिसाला। रचे जहाँ बैठहिं महिपाला॥***' इत्यादि। सबसे आगे ये ही हैं, क्योंकि इनको उठ-उठकर धनुष तोड़नेको जाना पड़ेगा। इससे सबसे प्रथम राजाओंने देखा और इसी क्रमसे सबका देखना कहा गया। पुनः भाव कि यहाँ वीररस प्रधान है, धनुषका तोड़ना वीरता है, इससे भी वीररसका कथन प्रथम हुआ। राजाओंका श्रीरामजीमें वीर-भाव है, इससे उनको वीररस-मय मूर्ति देख पड़ी। ☞ (ख) प्रारम्भहीमें 'रस' शब्द देकर सूचित करते हैं कि हम यहाँ नवों रसोंका वर्णन करेंगे।

वि० त्रि०—उस समाजमें बड़े-बड़े रणधीर नर-शरीर धारण करके आये थे। यथा—'***देव दनुज धरि मनुज सरीरा। बिपुल बीर आए रनधीरा॥***' प्राकृतमें द्विवचन नहीं होता, उसके लिये बहुवचन ही आता है, यथा—'**द्विवचनस्य बहुवचनम्।**' यहाँ दोनों राजकुमारोंके लिये '***सरीरा***' बहुवचनका प्रयोग हुआ है। '**जश्शसोर्लोपः**' इस सूत्रसे विसर्गका लोप हुआ। 'सरीर' शब्दका पुँल्लिङ्गवत् व्यवहार हुआ है। प्राकृतमें लिङ्गका निर्णय नहीं है—'**लिङ्गमतन्त्रम्।**' '***प्रभु मूरति देखी तिन्ह तैसी***' ऊपर कह आये हैं, इससे कोई यह न समझ लें कि '***प्रभु***' शब्दसे रामजीका ही बोध होता है। लक्ष्मणजी भी प्रभु हैं। यथा—'***जय अनंत जय जगदाधारा। तुम्ह प्रभु सब देवन्हि निस्तारा॥***'

टिप्पणी—२ (क) '***डरे कुटिल नृप प्रभुहि निहारी***' इति। अच्छे राजाओंका हाल कहकर अब कुटिल राजाओंका हाल कहते हैं। इनका श्रीरामजीमें कुटिल भाव है। ये रामजीसे कुटिलता रखते हैं यह आगे स्पष्ट है, यथा—'***अति डर उतरु देत नृप नाहीं। कुटिल भूप हरषे मन माहीं॥***' (२०७। ५) भयानक मूर्ति देखनेसे डर लगता है, उनको भयानक मूर्ति देख पड़ी, इसीसे 'डरे'। इसीको आगे चरितार्थ करेंगे, यथा—'***अपभय कुटिल महीप डेराने। जहँ तहँ कायर गवहि पराने॥***' (२८५। ८) यहाँ '***कुटिल नृप***' कहकर जनाया कि अर्धाली ५ में जिन राजाओंको कहा वे अच्छे नृप थे। [पुनः भयानक हैं, इससे डरे और भागना चाहते हैं, परन्तु भागे नहीं क्योंकि ईश्वरीय इच्छामें बँधे हैं। ये सब भी प्रभुता मानते हैं जैसा उनके '***लेहु छड़ाइ सीय कह कोऊ॥***' (२६६। ३) से अनुमानित होता है। इसीसे '***प्रभुहि निहारी***' कहा। बैजनाथजी लिखते हैं कि छोटा रूप भयानक भी हो तो उससे कोई विशेष नहीं डरता, इसीसे यहाँ '***भारी***' विशेषण भी दिया।] (ख)—वीररसके बाद भयानक रस है। यथा—'**शृङ्गारहास्यकरुणा रौद्रवीरभयानकाः**' (अमरकोश टीका), इसीसे वीररस कहकर भयानक रस कहा।

टिप्पणी—३ (क) '***रहे असुर छल छोनिप बेषा***' इति। भगवान्‌में असुरोंका छल-भाव है, इसीसे इनको कालसम देख पड़े। वीरोंको वीर, कुटिलोंको भयानक और असुरोंको काल। देवताओंको क्या देख पड़े, वे भी तो राजाओंका रूप धरकर वहाँ थे? यथा—'***देव दनुज धरि मनुज सरीरा। बिपुल बीर आए रनधीरा॥***' यह निश्चय है कि इनको कालसम नहीं देख पड़े, क्योंकि देवता भगवान्‌से छलभाव नहीं रखते, वरंच निश्छल रहते हैं, इसीसे तो भगवान् सदा उनकी सहायता करते रहते हैं। '***असुर***' कहकर '***सुर***' को उनसे पृथक् कर दिया गया। [जो वीर रणधीर बनकर आये, उनको वीररसकी मूर्ति देख पड़े और जिसकी जैसी भावना (इष्टदेव, विष्णु, विराट् इत्यादि) रही वैसे उसे देख पड़े। यथा—'**पुर बैकुंठ**

जान कह कोई। कोउ कह पयनिधि बस प्रभु सोई॥ जाके हृदय भगति जसि प्रीती। प्रभु तहँ प्रगट सदा तेहि रीती॥' (१८५। २-३)] (ख)—*'प्रगट काल।'* भाव कि काल प्रकट नहीं देख पड़ता। धर्म-बल-बुद्धि-हरणद्वारा जाना जाता है; यथा—*'काल दंड गहि काहु न मारा। हरै धरम बल बुद्धि बिचारा॥ निकट काल जेहि आवत साईं। तेहि भ्रम होइ तुम्हारेहि नाईं॥'* (६। ३६। ८) सो इस तरह नहीं, प्रत्युत इनको प्रभु प्रत्यक्ष-काल-मूर्तिसे देख पड़े। *'प्रगट काल सम'* कहकर सूचित किया कि मूर्तिमान् रौद्ररस देख पड़े। रुद्र संहारकर्ता हैं—*'रुद्रकोटि सम संघरता।'* रुद्रका रस रौद्ररस कहलाता है। [(ग) वीर और भयानक रसोंका मूर्तिमान् होना 'अनुक्तविषया वस्तूत्प्रेक्षा' है। असुरोंने प्रभुको कालके समान देखा, इसमें 'खा जानेवाला' धर्म नहीं कथन किया गया। इससे इसमें 'धर्मलुप्तोपमा अलंकार' है। (वीरकवि)]

वि० त्रि०—छली असुर राजाके वेषमें थे जिसमें उन्हें कोई पहिचान न सके, पर काल सबको पहिचानता है। वेष बदलनेसे कोई बच नहीं सकता। उन्होंने देखा कि प्रत्यक्ष काल आ गया, अब हम बच नहीं सकते, क्योंकि कालका दर्शन मुमूर्षुको ही होता है। कालरूप कहकर बीभत्सरस कहा।

टिप्पणी—४ *'पुरबासिन्ह देखे दोउ भाई।……'* इति। (क) राजाओंका देखना कहकर पुरवासियोंका देखना कहा। इससे भी जनाया कि इनके पीछे पुरवासियोंके बैठनेके स्थान हैं। यथा—*'तेहि पाछे समीप चहुँ पासा। अपर मंच मंडली बिलासा॥ कछुक ऊँचि सब भाँति सुहाई। बैठहिं नगर लोग जहँ जाई॥'* (२२४। ४-५) (ख) *'नरभूषन'* अर्थात् अत्यन्त सुन्दर हैं, यथा—*'निरखि सहज सुंदर दोउ भाई। होहिं सुखी लोचन फल पाई॥'* (१। २२०। ३) पुनः भाव कि यहाँ नर-समाज प्रधान है। देवता, दैत्य, राक्षस इत्यादि सभी नरवेष बनाये यहाँ उपस्थित हैं, अतः *'नरभूषन'* कहा, नहीं तो वे तो 'त्रिभुवनभूषण' हैं। परंतु यहाँ 'नरभूषण' कहकर भी त्रैलोक्यभूषण जना दिया, क्योंकि यहाँ तीनों लोकोंके पुरुष उपस्थित हैं उन सबोंके भूषण कह ही रहे हैं। (ग)—*'लोचन सुखदाई'* कहनेका भाव कि जिसके नेत्र हैं, उसके सुखदाता हैं, यथा—*'खग मृग मगन देखि छबि होहीं।'* (घ) ☞इस अर्धालीमें शृङ्गार रस है और आगे दोहेमें शृङ्गार कहते हैं। [पाँड़ेजीका मत है कि इसमें शृङ्गार रसकी कली कही है जिसका विकास दोहेमें है। और बैजनाथजी लिखते हैं कि 'इन्होंने प्रभुको वैसा ही देखा जैसा पूर्व नगर-दर्शन-समय देखा था। इसमें बहुत-से रसोंका बोध होता है, सो आगे कहते हैं।'[*'लोचन सुखदाई'* हैं, अर्थात् देखनेवाले देखकर सुखी होते हैं। इसी तरह नगर-दर्शनमें भी कहा था—*'होहिं सुखी लोचन फल पाई।'*]

दो०—नारि बिलोकहिं हरषि हिय, निज निज रुचि अनुरूप।
जनु सोहत सिंगार धरि, मूरति परम अनूप॥ २४१॥

अर्थ—स्त्रियाँ हृदयमें प्रसन्न होकर अपनी-अपनी रुचिके अनुसार प्रभुको देख रही हैं। मानो परम अनुपम (उपमारहित) मूर्ति (रूप) धारण किये हुए शृङ्गार रस ही सुशोभित हो रहा है॥ २४१॥

टिप्पणी—१ (क) ☞ पुरवासी पुरुषोंके पीछे स्त्रियोंके बैठनेके घर बने हैं, यथा—*'तिन्हके निकट बिसाल सुहाए। धवल धाम बहु बरन बनाए॥ जहँ बैठे देखहिं सब नारीं। जथा जोग निज कुल अनुहारीं॥'* (२२४। ६-७) इसीसे पुरवासियोंके पीछे स्त्रियोंका देखना कहते हैं। जिस क्रमसे लोग बैठे हैं उसी क्रमसे सबका देखना लिखा गया, यहाँ बैठकका क्रम आकर पूरा हो गया। (ख) *'निज निज रुचि अनुरूप'* अर्थात् जिसका जैसा नाता श्रीजानकीजीसे है, वह वैसा रामजीको देखती है। जानकीजी जिनकी लड़की, भतीजी, भांजी आदि लगती हैं, उनकी रुचि है कि ये हमारे दामाद हों, अर्थात् वे जामातृ-भावसे देखती हैं। इसी तरह किसीके बहनोई, किसीके फूफा, किसीके नन्दोई इत्यादि होनेकी रुचि है। ये सब प्रभुको उसी भावसे देखती हैं। (ग) *'रुचि अनुरूप'* देखना कहा, क्योंकि अभी नाता हुआ नहीं है, अभी धनुष टूटा नहीं है। नाता तो तब होगा जब धनुष टूटेगा। अभी नाता होनेकी रुचि है। (घ) *'जनु सोहत सिंगार……'* इति। परम अनूप रूप धरनेका भाव कि शृङ्गार अनूप है और शृङ्गारके तत्त्वकी मूर्ति श्रीरामजी

हैं, यथा—'*सुषमा सुरभि सिंगार छीर दुहि मयन अमियमय कियौ है दही री। मथि माखन सियराम सँवारे सकल भुवन छबि मनहु मही री॥ दूलह राम सीय दुलही री।*' (गीतावली। १। १०६) (ङ) '*पुरबासिन्ह देखे दोउ भाई। नरभूषन लोचन सुखदाई॥*' इसमें किसी रसका नाम नहीं लिखा था। यहाँ दोहेमें '*सिंगार*' शब्द कहकर सूचित किया कि यहाँ और वहाँ (उस अर्धालीमें) दोनोंमें शृङ्गार रस है। तात्पर्य कि जनकपुरनिवासी स्त्री-पुरुष सभीको श्रीरामजी शृङ्गारकी मूर्ति देख पड़े। शृङ्गारका रंग श्याम है और श्रीरामजी भी श्याम हैं, '**श्यामो भवति शृङ्गारः**'(भरत) पुनः '**शृङ्गारः सखि मूर्तिमानिव मधौ मुग्धो हरिः क्रीडति।**' (जयदेव गी० गो० सर्ग १) शृङ्गार तो ऐसे ही सोहता है, उसपर भी जब परम अनुपम रूप धरकर उपस्थित हुआ तब तो कहना ही क्या?

वै०—पुरवासिनी स्त्रियोंने अलभ्य लाभ पाया है; इसीसे वे हृदयमें हर्षित होकर अपनी-अपनी रुचिके अनुकूल इच्छापूर्वक प्रभुको देखती हैं। कुमारी शुद्ध शृङ्गारमय रूप देखती हैं और विवाहिता हास्ययुत शृङ्गार देखती हैं, अतएव '*परम अनूप*' कहा। अथवा, मुग्धा (वह नायिका जो यौवनको तो प्राप्त हो चुकी हो, पर जिसमें काम-चेष्टा न हो। इसे साज-शृङ्गारका बहुत चाव रहता है) 'शृङ्गार' की मूर्ति देखती हैं। मध्या (वह नायिका जिसमें लज्जा और काम समान हो) 'परम शृङ्गार' की मूर्ति देखती हैं। और प्रौढ़ा (वह नायिका जो कामकला आदि अच्छी तरह जानती है। प्रायः ३० वर्षसे ५० वर्षतककी आयुवाली) 'परम अनूप शृङ्गार' की मूर्ति देखती हैं। अथवा, जो बालसे लेकर युवावस्थातकके पुरवासी हैं वे दोनों राजकुमारोंको भाई करके सख्यरसमय देखते हैं और उसी भाँतिकी जो युवा कुमारी आदि स्त्रियाँ हैं, वे निज-निज रुचि अनुरूप अनेकों भाव किये हुए हैं, उनके मनोरथोंके अनुकूल उनको प्रभुका रूप देख पड़ता है। मुग्धाको 'शुद्ध शृङ्गार' ही देख पड़ा, मध्याको लज्जा मदनमय कटाक्षयुत 'परम शृङ्गार' देख पड़ा, और प्रौढ़ाको कामबाण-सी कटाक्षयुत परम (अनूप) शृङ्गारकी मूर्ति देख पड़ी।

बिदुषन्ह प्रभु बिराट मय दीसा। बहु मुख कर पग लोचन सीसा॥ १॥
जनक जाति अवलोकहिं कैसे। सजन सगे प्रिय लागहिं जैसे॥ २॥
सहित बिदेह बिलोकहिं रानी। सिसु सम प्रीति न जाति* बखानी॥ ३॥

शब्दार्थ—दीसना (सं० दृश)=देखना=देखाई पड़ना, दिखाई देना। **सजन**=मान्य सम्बन्धी।

अर्थ—विदुषों (पण्डितों, विद्वानों) को प्रभु विराट्मय अर्थात् विराट्रूपमें देख पड़े, जिनके बहुत-से मुख, बहुत-से हाथ, बहुत-से पैर, बहुत-से नेत्र और बहुत-से सिर हैं॥ १॥ जनकजीके जातिके लोग अर्थात् निमिवंशी कुटुम्बी प्रभुको कैसे (किस प्रकार, किस भावसे, किस रूपमें) देख रहे हैं जैसे सम्बन्धी (दामाद इत्यादि देखे जाते और) प्रिय लगते हैं॥ २॥ जनकसहित रानियाँ उन्हें अपने बच्चेके समान देख रही हैं। उनकी प्रीति वर्णन नहीं की जा सकती॥ ३॥

टिप्पणी—१ (क) विराट्मय देखा, यह कहकर दूसरे चरणमें विराट्का स्वरूप कहा। वेदोंमें विराट्का स्वरूप यह लिखा है—'**सहस्रशीर्षा पुरुषः सहस्राक्षः सहस्रपात्॥ १४॥……सर्वतःपाणिपादं तत्सर्वतोऽक्षिशिरोमुखम्। सर्वतःश्रुतिमल्लोके सर्वमावृत्य तिष्ठति॥ १६॥** (श्वेताश्वतर उप० अ० ३) (अर्थात् उस परम पुरुष परमात्माके हजारों सिर, हजारों आँखें और हजारों पैर हैं।…उन परम पुरुषके हाथ, पैर, आँखें, सिर, मुख और कान सर्वत्र सब जगह हैं। वह ब्रह्माण्डमें सबको सब ओरसे घेरकर स्थित हैं) पण्डित वेदोंके ज्ञाता हैं, इससे वह रूप देख पड़ा। मूर्ख विराट्को नहीं देख सकते, यथा—'सुदुर्दर्शमिदं रूपम्।' (गीता ११। ५२) '**योगिनामपि दुर्लभम्।**' ☞कोई-कोई भागवतके अनुकूल यहाँ यह अर्थ करते हैं कि जो 'विदुष न' विदुष नहीं हैं वे विराट्मय देख रहे हैं'। वे विदुषन बहुवचनकी नकारको निषेधमें लगाते हैं, पर यह अर्थ प्रसंगानुकूल नहीं है किन्तु प्रसंगके विरुद्ध है। क्योंकि यहाँ सर्वत्र बहुवचनका ही प्रयोग हुआ है, यथा—'**पुरबासिन्ह**

* जाइ—१७०४, को० रा०।

देखे' 'जोगिन्ह परम तत्वमय......' 'हरिभगतन्ह देखे......' तथा 'बिदुषन्ह दीसा।' यहाँ किसी जगह नकार निषेधात्मक नहीं है, तब यहाँ एक जगह उसका निषेधार्थ कैसे लगावेंगे?* (ख) **'बहु मुख कर पग लोचन सीसा'** यहाँ विराट्‌रूपका वर्णन ऊपरसे प्रारम्भ किया गया। मुखसे चलकर कर और पग कहा, यहाँतक तो क्रमसे वर्णन किया। तत्पश्चात् क्रम भंगकर नेत्र और सिर कहा। इस क्रमभंगका कारण यह है कि विराट् ही तो ठहरे, इनके अङ्ग क्रमसे नहीं हैं। मुख, कर, पद, नेत्र और सिर उनके अङ्गमें सर्वत्र हैं—'**सर्वतोऽक्षिशिरोमुखम्**।' (ग) प्रथम बैठकके क्रमसे कहते आये। अब उन्हींमें जो विदुष हैं उनका देखना कहते हैं। विदुषोंमें कोई नियम नहीं है। पण्डित सभीमें होते हैं। राजाओंमें भी विदुष हैं और पुरवासियोंमें भी। उन सबोंको विराट्‌मय रूप देख पड़ा। इससे यह भी जनाया कि पण्डितोंका विराट्‌भाव है। [(घ) पाँड़ेजी यहाँ बीभत्स और बैजनाथजी शान्तरस मानते हैं। पं० रामकुमारजीके खर्रेमें पंक्तियोंके बीचमें लिखा है कि 'यहाँ बीभत्सरस' है। और अन्तमें लिखा है कि 'यहाँ अद्भुतरस है' यथा— ***'देखरावा मातहि निज अद्भुत रूप अखंड। रोम रोम प्रति लागे कोटि कोटि ब्रह्मंड॥'*** प्र० स्वामीका मत है कि इस मङ्गलमय प्रसंग तथा परशुराम-प्रसङ्गमें बीभत्सरस नहीं है। ***'बिदुषन्ह प्रभु बिराटमय दीसा।......'*** में अद्भुतरस ही है। बहु कर-पद आदि कटे हुए नहीं हैं और न उनसे रक्त आदि बहता है। आगे ***'जोगिन्ह परम तत्वमय भासा'*** में शान्तरस है। इस प्रसङ्गमें हास्यरस भी प्रकट नहीं है। यहाँ तो सभी रस भक्तिरसके साथ, वात्सल्यसहित विद्यमान हैं। वि० त्रि० लिखते हैं कि 'विद्वान् देवतारूप हैं; उन्हें सदा विराट्‌रूपके दर्शनकी इच्छा रहती है। यथा— '**देवा अप्यस्य रूपस्य नित्यं दर्शनकांक्षिणः**।' उन्हें भगवान्‌का अनेक बाहु, उदर, मुख, आँखसहित अनन्त रूप दिखायी पड़ा। आदि, मध्य, अन्त कुछ मालूम न हुआ। इससे अद्भुतरस कहा]

टिप्पणी—२ (क)' ***जनक जाति*** ' इति। निमिवंशीमात्रके ये सज्जन हैं, बहनोई, फूफा, दामाद इत्यादि मान्य सजन कहलाते हैं। जनकजीके ही ये सगे दामाद हैं, औरोंके ***'सगे सजन'*** नहीं हैं, पर औरोंको प्रिय वैसे ही लगते हैं। जैसे अपने सगे दामाद प्रिय लगते हैं। 'सगा' विशेष प्रिय लगता है इसीसे ***'सगे'*** कहा। ☞यहाँ देखना और प्रिय लगना दो बातें कहीं, इसीसे यत्-तत्‌का सम्बन्ध दो बार कह लेना चाहिये। 'कवि (ने) लाघवतासे एक बार कहा।' जैसे सजनको देखते हैं और जैसे सगे सजन प्रिय लगते हैं वैसे ये प्रिय लगते हैं। ☞जनकजाति सगे सजन भावसे देखते हैं इसीसे उनको 'सगे सजनसदृश' देख पड़े। [बैजनाथजी लिखते हैं कि 'निमिवंशी प्रभुको कैसे देखते हैं जैसे सगे सजन (अर्थात्) जामातृ सगे, ऐसे प्रिय लगते हैं। अथवा, मिथिलेशजी दस भाई हैं। मिथिलेशजीके पिता ह्रस्वरोमजीके तीन रानियाँ थीं—शुभा, सदा, सर्वदा। श्रीशुभाजीके श्रीशीरध्वज और कुशध्वज, श्रीसदाजीके श्रीशत्रुजित्, यशशालि, अरिमर्दन और रिपुतापनजी और श्रीसर्वदाजीके श्रीमहिमंगल, बलाकर, तेजस्य और महावीर्यजी पुत्र हुए। जनकजातिसे श्रीजनकजीके ये नवों भाई अभिप्रेत हैं। ये सब सगे जामातृरूपमें देखते हैं। इन आठों विमातृ भाइयोंके एक-एक कन्या थी जो श्रीजानकीजीकी सखियाँ थीं और उनके साथ अवधको आयी थीं, इससे उनका प्रभुको जामातृभावसे प्रिय लगना उचित ही था।' यहाँ 'उदाहरण अलंकार' है] (ख) ***'सहित बिदेह......'*** इति। माताका प्रेम शिशुपर पितासे अधिक होता है, इसीसे रानियोंको प्रधान रखा। जातिवालोंको सगे सजन समान कहा और राजारानीको शिशुसमान, क्योंकि सगे सजनसे भी अपने शिशुमें सबकी अधिक प्रीति होती है। जातिवालोंसे इनका प्रेम अधिक कहा। 'शिशुभाव' है, इसीसे 'शिशुसम' इनको देख पड़े। रानियोंने आज ही प्रथम दर्शन पाया है। वे भी विदेहजीकी तरह इन्हें देखकर विदेह हो रही हैं। 'विदेह' शब्दको बीचमें रखकर यह भाव दर्शित किया है। (प० प० प्र०) श्रीजनकजीके चार रानियाँ थीं। यथा—'**चतसृभिस्तु भार्याभिर्यज्ञार्थं दीक्षितोऽभवत्**।'(का० पु०) अतः ***'बिलोकहिं'*** बहुवचन क्रिया दी। जिस समय सीताजी पृथ्वीसे उत्पन्न हुई थीं, उन्हींके साथ दो पुत्र भी उत्पन्न हुए थे। यथा—'**द्वौ पुत्रौ तस्य संजातौ यज्ञभूमौ**

* स्मरण रहे कि गोस्वामीजीने प्राय: बहुवचनमें 'न्ह' का प्रयोग किया है न कि 'न' का। संस्कृतके पण्डितोंने जो उसको बदलकर 'न' कर दिया है इसीसे अर्थका अनर्थ जहाँ-तहाँ लोग कर बैठते हैं।

मनोहरौ। एका च दुहिता साध्वी भूम्यन्तरगता शुभा।' अतः रानियाँ शिशुप्रीतिसे अपरिचित नहीं थीं। इन्हें वात्सल्यरसकी पराकाष्ठाकी प्रतीति हुई (वि० त्रि०)] (ग) ***'प्रीति न जाति बखानी'*** अर्थात् इनका प्रेम अकथनीय है। आगे सीताजीकी भी प्रीति अकथनीय कहते हैं, इससे राजा, रानी और जानकीजी तीनोंकी प्रीति एक समान कही। श्रीजानकीजीके 'सुख' और 'स्नेह' दोनोंको अकथनीय कहा है। यथा—***'सो सनेह सुख नहिं कथनीया।'*** इसी तरह राजारानीका भी सुख आगे अकथनीय कहेंगे, यथा ***'सुख बिदेह कर बरनि न जाई॥ जनम दरिद्र मनहु निधि पाई॥' 'जो सुख भा सियमातु मन देखि राम बर बेष। सो न सकहिं कहि कलप सत सहस सारदा सेष॥'*** ☞पुरवासियोंसे जातिवर्गकी प्रीति अधिक कही। उत्तरोत्तर आगेवालेकी प्रीति अधिक दिखाते जाते हैं। [इस प्रकार कि परिवार और राजारानीके सम्बन्धमें केवल प्रीति ही कही, यथा—***'प्रिय लागहिं' 'प्रीति न जाइ बखानी'*** और श्रीजानकीजीके लिये लिखते हैं कि ***'सो सनेह सुख नहि कथनीया।'*** अर्थात् पहलेमें केवल प्रिय लगना कहा, दूसरेमें कहा कि प्रीति अकथनीय है, तीसरेमें एक शब्द ***'सुख'*** भी बढ़ा दिया और ***'सुख सनेह'*** दोनोंको अकथनीय कहा। —यह जरूर है कि राजा-रानीका भी सुख अकथनीय आगे कहा है, पर वह धनुष टूटनेपर ही कहा गया है और श्रीजानकीजीका सुख धनुष तोड़े जानेके पूर्वसे देखा जा रहा है, यही विशेषता है। बैजनाथजी यहाँ 'शुद्ध वात्सल्य' मानते हैं और पाँड़ेजीका मत है कि यहाँ करुणरसकी कली है।]

जोगिन्ह परम तत्वमय भासा। शांत सुद्ध सम सहज प्रकासा॥ ४॥
हरिभगतन्ह देखे दोउ भ्राता। इष्टदेव इव सब सुखदाता॥ ५॥

शब्दार्थ—**भासना**=मालूम होना, देख पड़ना, प्रतीत होना, अनुभूत होना।

अर्थ—योगियोंको श्रीरामरूप 'परम तत्त्वमय, शान्त, शुद्ध सम, स्वतः प्रकाशमान' भासित हुआ॥ ४॥ हरिभक्तोंने दोनों भाइयोंको सर्वसुखदाता इष्टदेवके समान देखा॥ ५॥

टिप्पणी—१ (क) ***'परम तत्वमय'*** इति तत्त्व पचीस हैं। इन पचीसों तत्त्वोंसे परे 'परम तत्त्व' है। [त्रिपाठीजी लिखते हैं कि सांख्यशास्त्रने २४ तत्त्व माने हैं, परंतु योगशास्त्र पचीसवाँ तत्त्व 'ईश्वरतत्त्व' को स्वीकार करता है, इसलिये उसे ***'परम तत्व'*** कहा। यह परम तत्त्व क्लेश (अविद्या, अस्मिता, राग, द्वेष और अभिनिवेश), कर्म (विहित, प्रतिषिद्ध तथा मिश्रित), विपाक (कर्मफल, जाति, आयु और भोग) और आशय-(वासना-) से छुवायी नहीं रखता। यथा—'**क्लेशकर्मविपाकाशयैरपरामृष्टः पुरुषविशेष ईश्वरः।**' (पा० १—२४)] (ख) ***'भासा'*** इति। आदिसे अन्ततक रसोंके वर्णनमें सबका 'देखना' कहा, परंतु योगियोंके सम्बन्धमें ***'भासा'*** कहा। कारण कि परम तत्त्व दृष्टिगोचर नहीं होता, देखा नहीं जाता। वह केवल अनुभवगम्य है, उसका अनुभवमात्र होता है।—यह गोस्वामीजीकी सावधानता है। (ग) ***'सांत सुद्ध सम सहज प्रकासा'*** इति। ईश्वरका स्वरूप शान्तरसमय है, यथा—***'बैठे सोह कामरिपु कैसे। धरें सरीर सांतरस जैसे॥'*** (१०७। १) पुनः, शुद्ध है अर्थात् परमतत्त्वमय है, मायाजनित विकारोंसे रहित है, उनसे परे है। ***'सम'*** अर्थात् न्यूनाधिक्य विकारसे रहित है, सदा एकरस रहता है। ***'सहज प्रकास'*** रूप है, अर्थात् दूसरेके प्रकाशसे प्रकाशित नहीं है। ***'सहज प्रकासरूप भगवाना।'*** (११६। ५) में देखिये। ☞(घ) योगी भगवान्‌के तत्त्वरूपकी उपासना करते हैं, इससे उनको तत्त्वरूप भासित हुआ।

टिप्पणी—२ (क) ***'हरिभगतन्ह'*** इति। जो जैसी मूर्तिका उपासक था उसको वैसी मूर्ति देख पड़ी, इसीसे ***'हरि'*** कहा। ***'हरि'*** सब अवतारोंकी मूर्तिका बोधक है। (ख) ***'सब सुखदाता'***= सब सुखोंके एवं सबोंके सुखके दाता। दोनों अर्थ हैं। इष्टदेव ही माता-पिता, भाई, बन्धु, मित्र आदि सभीका सुख दे सकते हैं, अन्य कोई एक दोके ही सुख दे सकते हैं, सब नहीं। ☞हरिभक्त इष्टभावसे देखते हैं, इसीसे उनको इष्टदेवके समान देख पड़े। [पुनः, 'हरिभक्त अर्थात् आर्त्त, अर्थार्थी, जिज्ञासु, ज्ञानी, वा नवधा, प्रेमा, परावाले जो भगवद्भक्त हैं। इष्टदेव इव अर्थात् कृपा, दया, सौशील्य, उदारतादि गुणसम्पन्न।' (बै०)] (ग) ☞योगियों

और हरिभक्तोंको जनकजीके परिकरोंमें कहा, क्योंकि जनकजी योगी भी हैं और हरिभक्त भी। वे भगवान्‌के भक्तोंको अपना कुटुम्ब समझते हैं। पुनः, जनकजी सब योगियोंमें श्रेष्ठ हैं इसीसे योगियोंसे प्रथम कहा और प्रधान भक्तराज हैं, इससे हरिभक्तोंसे भी पहले उन्हें कहा।

नोट—१ जिसका मन जिसमें लगता है वह श्रीदशरथनन्दनजीको उसी रूपमें देख रहा है। इससे जनाया कि सब भक्तोंके इष्टदेव ये ही हैं और ये ही सब सुखोंके देनेवाले हैं। २ पंजाबीजीका मत है कि 'यहाँ 'इव' निश्चयके अर्थमें है' ३ पाँड़ेजी कहते हैं कि यहाँ अद्भुतरस है क्योंकि यहाँ जो जिस देवताका उपासक है उसको उसीका रूप देख पड़ता है और बैजनाथजी यहाँ हास्यरस कहते हैं। (इष्टदेवमें प्रायः सभी भक्तोंका सेवाभाव कुछ-न-कुछ रहता ही है इससे हास्यरस भी हो सकता है)

रामहि चितव भाय* जेहि सीया। सो सनेहु सुखु† नहि कथनीया॥ ६॥
उर अनुभवति न कहि सक सोऊ। कवन प्रकार कहै कबि कोऊ॥ ७॥
येहि‡ बिधि रहा जाहि जस भाऊ। तेहि तस देखेउ कोसलराऊ॥ ८॥

अर्थ—जिस भावसे श्रीसीताजी श्रीरामजीको देख रही हैं, वह भाव, स्नेह और सुख कथनमें नहीं आ सकता॥ ६॥ वे उसे हृदयमें अनुभव कर रही हैं पर वे भी कह नहीं सकतीं, तब कोई भी कवि किस प्रकार उसे कह सके?॥ ७॥ इस प्रकार जिसका जैसा भाव था उसने कोसलराज रामचन्द्रजीको वैसा ही देखा॥ ८॥

टिप्पणी—१ (क) सबके भाव यहाँतक लिखे। अर्थात् (रणधीर) राजाओंको वीर, कुटिलोंको भयदाता, छलियोंको काल, पुरवासियोंको नरभूषण, स्त्रियोंको शृङ्गार, विदुषोंको विराट्, निमिवंशियोंको सगे सजन, राजारानीको शिशु, योगियोंको परमतत्त्वमय और हरिभक्तोंको इष्टदेवसम देख पड़े, यही उनके भाव थे। श्रीसीताजीका भाव, स्नेह और सुख तीनों अकथनीय हैं इसीसे कविसे कहते नहीं बनता। इनका 'स्नेह-सुख' कथनीय नहीं, इस कथनसे जनाया कि औरोंके सुख और स्नेह कथनीय थे इससे कहे, यथा *'पुरबासिन्ह देखे दोउ भाई। नरभूषन लोचन सुखदाई॥ 'हरि भगतन्ह देखे दोउ भ्राता। इष्टदेव इव सब सुखदाता॥'* (ख) *'नहिं कथनीया'* कहकर आगे उसका कारण कहते हैं। (ग) ☞अन्तमें सीताजीको कहनेका भाव कि क्रमसे भाव कहना प्रारम्भ किया और क्रमसे उत्तरोत्तर अधिक प्रीति कहते गये; जब अकथ भावपर पहुँचे तब कहना बंद हो गया।

टिप्पणी—२ (क) *'न कहि सक सोऊ'* यथा *'सुनु सिवा सो सुख बचन मन गो भिन्न जान जो पावई।'* (ख) *'कवन प्रकार कहै कबि'* अर्थात् जब कुछ छाया भी उसकी मिले तब तो कुछ कहे, यथा—*'कबिहि अरथ आखर बल साचा। अनुहर ताल गतिहि नट नाचा॥'* तात्पर्य कि कविके कहनेका प्रकार 'अक्षर' और 'अर्थ' है। श्रीजानकीजी अपना सुख न कह सकीं, इससे कविको अर्थ या अक्षर कुछ भी न मिला। जब भोग भोगनेवाला कुछ जनावे तब कवि विस्तार करके कहे। पुनः जिनकी दी हुई बुद्धि पाकर कवि लोग कहते हैं—*'जासु कृपा निर्मल मति पाऊँ'* वही जानकीजी ही नहीं कह सकतीं तब कवि कैसे कहे?—(यहाँ 'काव्यार्थापत्ति अलंकार' है) यहाँ यह भी जनाते हैं कि ईश्वरजनित सुख भोगने योग्य है, कथन योग्य नहीं।

वि० त्रि०—लौकिक भावोंके लिये शब्द हैं क्योंकि वे व्यवहारमें आते हैं। अलौकिकके लिये शब्द नहीं मिलते क्योंकि व्यवहारमें उनका चलन नहीं। संसार दाम्पत्य प्रेमसे परिचित है, अतः उसके लिये शब्द हैं, परन्तु राम-सीयमें ऐकात्म्य भाव है, यथा *'गिरा अरथ जल बीचि सम कहिअत भिन्न न भिन्न।'* अतः इस प्रकारकी प्रीति लोकमें नहीं है, लोकमें इस प्रीतिका कोई अनुभव नहीं करता। अतः उसके

* भाव-१७०४, को० रा०। भाय-१६६१; १७२१, १७६२, छ०। † सुख—१७७४।
‡ जेहि १७०४।

लिये शब्द भी नहीं पाये। सीताजी उसका अनुभव करती हैं, वे भी नहीं कह सकतीं, क्योंकि शब्दकी वहाँतक गति नहीं।

महात्मा श्रीरामप्रसादशरणजी—स्फुट मनोरंजक मानस प्रसंगोंमेंसे एक यह भी है। यद्यपि परस्पर अवलोकनमें शृङ्गारकी प्रधानता है तथापि क्षण-क्षणमें नवों रस श्रीजानकीजीकी चित्तवृत्तिको आकर्षित करते हैं। मनोहर मूर्तिके दर्शनमें शृङ्गार झलकता है। जब पिता-प्रणका स्मरण होता है तब करुणा आ जाती है। जब राजकुमारके ताड़का-सुबाहु आदिके वधप्रसंगपर ध्यान जाता है तब वीररसका संचार हो जाता है। जब अपने मनकी गतिपर दृष्टि जाती है तब हास्यकी झलक आ जाती है। जब तत्काल प्रसिद्ध उनके अलौकिक कार्य शिलाभूत अहल्याके उद्धार और बिना बाणके मारीचको मारकर उड़ाना आदि घटनाएँ याद आती हैं तब अद्भुतरसका हृदयमें अन्तर्भोग होने लगता है। धनुषकी गुरुता और कठोरतामें भयानक। पिताने व्यर्थ कठिन प्रण किया, इसमें रौद्र। राजकुमारमें अपने सहज एवं सत्य स्नेहके विचारसे 'सख्यरस' *'करिहहिं मोहि रघुपति की दासी'* इस उक्तिके अनुसार दास्य और *'तौ भगवान् सकल उर बासी'* इसमें शान्तरस है। इस प्रकार जब पल-पलमें विविध रसोंका संचार हृदयमें हो रहा है, जब स्वयं किशोरीजी ही उसको दृढ़तापूर्वक नहीं धारण करती हैं—*'उर अनुभवति न कहि सक सोऊ'* तब *'कवन प्रकार कहै कबि कोऊ।'*

नोट—१ पाँड़ेजी यहाँ 'हास्यरस' कहते हैं और बैजनाथजीका मत है कि 'यहाँ कोई भी रस प्रधानताको नहीं पाता।' परस्पर अवलोकनसे यद्यपि आलम्बन शृङ्गार है तथापि जब प्रणकी सुध आती है तब करुणारस खींचता है, जब बल वीरताका स्मरण होता है तब वीररस, सुकुमारता विचारनेमें हास्यरस, शोभावलोकनमें शक्तिकी सुध आनेपर अद्भुतरस, धनुषकी गुरुतामें बीभत्स, कठोरतामें भयानक, पिताने व्यर्थ प्रण किया इसमें रौद्र, भगवान् सर्व-उरवासी हैं, मुझे रघुपतिकी दासी करेंगे इसमें शान्तरस खींचता है जो सब रसोंकी हानि करता है। कविके हृदयमें अनेकों रसोंका अनुभव होता है, पर कोई भी रस निमिषमात्र भी तो नहीं ठहरता; इससे वह नहीं कह सकता। प्र० स्वामी क्रमसे शृङ्गार, करुणा, वीर, भयानक, हास्य, अद्भुत, शृङ्गार, शान्त और भक्तिरसोंका चलचित्रपट मानते हैं।

टिप्पणी—३ (क) *'जिन्ह के रही भावना जैसी॥'*...... (२४१। ४) उपक्रम है और *'येहि बिधि रहा जाहि जस भाऊ॥'* (२४२। ८) उपसंहार है। वहाँ *'भावना'* और यहाँ *'भाऊ'* शब्द देकर दोनोंको पर्यायवाची जनाया। आदिमें *'प्रभुमूरति'* पद दिया जो ऐश्वर्यसूचक है, अब यहाँ *'कोसलराऊ'* पद देकर ऐश्वर्यको माधुर्यमें घटा दिया। (ख) यहाँ भावोंकी समाप्ति करके जनाया कि इतने ही भावोंके भीतर सब लोग आ गये। (ग) ☞जब सबकी भावना इकट्ठा कही तब 'भावना' के साथ बहुवचन *'जिन्ह' 'तिन्ह'* दिये थे—*'जिन्हके रही भावना जैसी। प्रभु मूरति देखी तिन्ह तैसी॥'* और जब सबके भाव पृथक्-पृथक् लिख चुके, तब एकवचन *'जाहि', 'तेहि'* दिये। [उपक्रममें *'प्रभु मूरति'* के सम्बन्धसे *'भावना'* स्त्रीलिङ्ग शब्द दिया गया और यहाँ *'कोसलराऊ'* के सम्बन्धसे *'भाऊ'* पुँल्लिङ्ग शब्दका प्रयोग किया गया; यह ग्रन्थकारका सँभाल है! (घ) *'जाहि जस भाऊ॥'*......' अर्थात् भावके अनुसार मूर्ति देख पड़ी, तात्पर्य कि दर्शनमें भाव मुख्य है। भावके ऊपर (सम्बन्धमें) देवतीर्थ स्वामीका भजन देखने योग्य है। ☞जो सरकारमें जैसा दृढ़ भाव रखता है, जो सम्बन्ध मानता है, प्रभु उसी भावसे उसको प्राप्त होते हैं—**'ये यथा मां प्रपद्यन्ते तांस्तथैव भजाम्यहम्'**]

श्रीराजारामशरणजी—१ तुलसीदासजीके इस कलाके चमत्कारको कि नवों रसोंमें राजकुँवरोंका वर्णन कर दिया कदाचित् फिल्मकला कुछ दिखा सके तो सके। एक जगह बर्नार्ड शा (Bernard Shaw) महोदयने कुछ उसी कलाकी सहायतासे प्रतिबिम्बद्वारा बड़े आकारके अमानुषिक व्यक्तिको दिखाया है। यहाँ भी *'भयानक मूरति भारी'* दिखाया है और उससे भी कठिन है 'विराट्' और *'सहज प्रकाश'* रूप। २—नाटकीय कला और महाकाव्यकलाका सम्मिश्रण विचारणीय है, पर प्रधान है नाटकीय कला, इसीसे *'देव दनुज धरि मनुज सरीरा'* आना लिखा है, फिर मजा यह है कि एक श्रेणीके स्त्री-पुरुष दूसरे श्रेणीके स्त्री-पुरुषोंकी भावना न देख सकें, न समझ सकें—*'जाकी रही भावना जैसी'* वैसी ही

मूर्ति वह देखता है, परंतु *'कोउ न जान कछु मरम बिसेषा।'* सच है, भगवान् रसरूप भी वेदोंमें कहे गये हैं, इसीसे कुशल कवि उन रसराजको सभी रसोंमें मूर्तिमान् कर देता है। भावोंके साथ अक्षरोंके शब्दगुणके परिवर्तन विचारणीय हैं।

प० प० प्र०—भाव विश्लेषणके निमित्तसे इस प्रकरणमें—(१) वैराग्य, ज्ञान और भक्तिकी कनिष्ठता और श्रेष्ठता, (२) व्यावहारिक नाते और सम्बन्धसे भी पारमार्थिक सम्बन्धकी श्रेष्ठता, (३) नारिवर्गकी प्रधान भावना, (४) पितासे माताके प्रेमकी अधिकता, (५) पूर्वसंस्कारानुरूप नातेका सम्बन्ध, ममत्व और प्रेम आदिकी उत्पत्ति इत्यादि अनेक महत्त्वके सिद्धान्त सहज लीलामें एक-दो शब्दोंके भेद, अनुक्रम इत्यादि विविध युक्तियोंसे भरे हैं। ८—१० पंक्तियोंके छोटेसे प्रकरणमें इतने विविध सिद्धान्त गुप्त प्रकट भर दिये हैं। ऐसा राम-नाट्यमहाकाव्य-संयोग इतरत्र कहीं न मिलेगा। विशेषता तो यह है कि यहाँके प्रत्येक सिद्धान्तकी पुष्टिके लिये मानसमें ही प्रमाण और उदाहरण मिलते हैं। कितनी व्यापक काव्यकला और प्रतिभा भाव!

नोट—२ श्रीमद्भागवत दशमस्कन्धमें जब भगवान् श्रीकृष्ण और श्रीबलरामजीका कुवलयापीड़ नामक हाथीको मारकर रंगभूमिमें पधारना कहा गया है तब वहाँ भी ऐसा ही वर्णन पाया जाता है।

दोनों भाइयोंके एक साथ रंगभूमिमें पधारनेपर बड़े-बड़े पहलवान यह समझकर कि इनका शरीर वज्र-सा कठोर है, रौद्ररसका अनुभव करने लगे। साधारण मनुष्योंने ऐसा समझा कि ये कोई श्रेष्ठ मनुष्य हैं और इसी अवस्थामें उनकी विचित्रताओंका स्मरण करके अद्भुतरसकी अनुभूति की। स्त्रियोंको ऐसा जान पड़ा मानो ये मूर्तिमान् कामदेव हैं। वे शृङ्गाररसकी अनुभूतिमें तन्मय हो गयीं। ग्वालबाल उन्हें अपना स्वजन समझकर हँसने लगे और हास्यरसका आस्वादन करने लगे। पृथ्वीके दुष्ट शासकोंने यह समझकर कि ये हमारा शासन करनेवाले हैं—उनमें वीररसका अनुभव किया और माता-पिताके समान बड़े-बूढ़ोंने उन्हें नन्हे-नन्हे बच्चोंके रूपमें अखाड़ेमें आते देख करुण-रसकी अनुभूति प्राप्त की। कंसने समझा कि यह तो हमारा काल ही है और इस प्रकार वह भयानकरसकी अनुभूतिमें डूब गया। अज्ञानियोंने उनके शरीरपर हाथीका रक्त, मद आदि लगा देखकर विकृतरूपकी कल्पना की, इसलिये उन्हें बीभत्स रसका अनुभव हुआ। योगियोंने उन्हें परमतत्त्व समझकर शान्तरसका साक्षात्कार किया। भगवान्के भक्त तथा प्रेमी वृष्णिवंशी उन्हें अपना इष्टदेव समझकर प्रेम और भक्तिके रसमें डूब गये। (भागवताङ्क) मूल श्लोक यह है—'**मल्लानामशनिर्नृणां नरवरः स्त्रीणां स्मरो मूर्त्तिमान्गोपानां स्वजनोऽसतां क्षितिभुजां शास्ता स्वपित्रोः शिशुः। मृत्युर्भोजपतेर्विराडविदुषां तत्त्वं परं योगिनां वृष्णीनां परदेवतेति विदितो रङ्गं गतः साग्रजः॥**' (४३। १७)

मानस और भागवतका मिलान करनेसे भागवतके '**मल्लानाम् अशनिः**' (१), '**नृणां नरवरः**' (२), '**स्त्रीणां स्मरो मूर्त्तिमान्**' (३), '**गोपानां स्वजनोः**' (४), '**असतां क्षितिभुजां शास्ता**' (५), '**स्वपित्रोः शिशुः**' (६), '**मृत्युर्भोजपतेः**' (७), '**विराडविदुषाम्**' (८), '**तत्त्वं परं योगिनाम्**' (९), '**वृष्णीनां परदेवता**' (१०) की जोड़में मानसमें क्रमशः *'देखहिं रूप महा रनधीरा। मनहुँ बीररस धरे सरीरा॥'* (१), *'पुरबासिन्ह देखे दोउ भाई। नरभूषन लोचन सुखदाई॥'* (२), *'नारि बिलोकहिं····जनु सोहत सिंगार धरि मूरति परम अनूप॥'* (३), *'जनक जाति अवलोकहिं कैसे। सजन सगे प्रिय लागहिं जैसे॥'* (४), *'डरे कुटिल नृप प्रभुहि निहारी। मनहु भयानक मूरति भारी॥'* (५), *'सहित बिदेह बिलोकहिं रानी। सिसु सम प्रीति न जाइ बखानी॥'* (६), *'रहे असुर छल छोनिप बेषा। तिन्ह प्रभु प्रगट काल सम देखा॥'* (७), *'बिदुषन्ह प्रभु बिराटमय दीसा॥'* (८), *'जोगिन्ह परम तत्त्वमय भासा॥·····'* (९), *'हरिभगतन्ह देखे दोउ भ्राता। इष्टदेव इव सब सुखदाता॥'* (१०) ये हैं।

दो०—राजत राजसमाजु महुँ कोसल राजकिसोर।
सुंदर स्यामल गौर तन बिस्वबिलोचन चोर॥ २४२॥

अर्थ—सुन्दर श्यामल और गौर शरीर, किशोर अवस्था और विश्वमात्रके नेत्रोंको चुरानेवाले, कोसलपुरीके राजा दशरथजीके पुत्र राजसमाजमें सुशोभित हो रहे हैं॥ २४२॥

टिप्पणी—१ *'राजसमाज बिराजत रूरे॥'* (२४१। ३) उपक्रम है और *'राजत राजसमाजु'* उपसंहार है। २—प्रथम कहा था कि *'राजकुँअर तेहि अवसर आए'* और अब यहाँ बताते हैं कि वे किस राजाके कुँवर हैं—*'कोसलराजकिसोर।'* ३—*'राजत राजसमाज महुँ कोसलराजकिसोर'* कहनेका भाव कि कोसलराज चक्रवर्ती हैं, उनके ये किशोर हैं; अतः इनकी शोभा सब राजाओंसे अधिक हुआ ही चाहे—यही अभिप्राय *'उडगन महुँ जनु जुग बिधु पूरे'* इस उत्प्रेक्षासे दिखाया है। चन्द्रमा समस्त तारागणका पति है वैसे ही श्रीरामचन्द्रजी सब राजाओंके पति हैं, क्योंकि चक्रवर्ती राजाके पुत्र हैं।—यह ऐश्वर्यकी शोभा कही। आगे तनकी शोभा कहते हैं। ४—*'सुंदर स्यामल गौर सरीरा॥'* (२४१। २) उपक्रम है और *'सुंदर स्यामल गौर तन'* उपसंहार है। ५—*'बिस्वबिलोचन चोर'* का भाव कि श्याम गौर तनकी सुन्दरता देखनेमें सबके नेत्र लग जाते हैं जैसा आगे स्पष्ट करके कहते हैं।—*'देखि लोग सब भये सुखारे। एकटक लोचन चलत न तारे॥'* (२४४। ३)

'स्याम गौर मृदु बयस किसोरा। लोचन सुखद बिस्व चित चोरा॥' (२१५। ५) देखिये।

वीरकविजी—रामचन्द्रजी विश्वभरके नेत्रोंको प्रिय लगनेवाले हैं, यह न कहकर 'चोर' स्थापन करना अर्थात् औरको और कहना 'सारोपा लक्षण' है। 'चोर' शब्दमें लक्ष्यामूलक अविवक्षितवाच्य ध्वनि है। नेत्र चुराये जा नहीं सकते और चोरी होनेपर धनीको दुःख होता है, पर इस चोरीमें उलटे धनीको आनन्द होता है।

प० प० प्र०—इस दोहेमें राज, राज, राज यह यमकानुप्रास और राज, माज यह अनुप्रास विराजनेमें कितनी सुन्दरता पैदा करता है! यहाँसे *'एकटक लोचन चलत न तारे'* तक युगल किशोरोंके रूपका वर्णन है।

पंजाबीजी—'राजकुमार श्याम गौर और आँखका भी स्वरूप श्याम गौर। विशेष ज्योति अल्प ज्योतिको अपनेमें खींच लेती है सो इस स्वरूपके प्रकाशके प्रभावसे सबोंकी दृष्टि उनकी ओर लग रही है।'

पाँड़ेजी—'चौदह विद्याओंमेंसे चौर्य्य विद्याका इस दोहेमें तरीभार (उत्कृष्ट रूप) वर्णित है।* चोरकी सबसे बड़ाई यह है कि आँखोंका काजल चुरा ले। सो ये उससे भी बढ़कर हैं कि विश्वकी आँखोंको चुरा लेते हैं। इनको किशोरावस्थाहीमें यह चोर विद्याकी निपुणता प्राप्त है तो आगे न जाने क्या (कहर वर्षा) करेंगे। पुनः, चोर छिपकर रातके समय राजाके नौकरोंसे डरता हुआ चोरी करता है और ये ऐसे निपुण हैं कि भरी सभामें दिनधौले राजाओंके समाजमें निडर हो उनसे बड़ी वस्तु अर्थात् विश्वके नेत्रोंकी चोरी करते हैं। जिन आँखोंसे देखकर चोर पकड़ा जाता है, ये उन आँखोंको ही चुरा लेते हैं, अब कौन देखे और कौन पकड़े?'

सहज मनोहर मूरति दोऊ। कोटि काम उपमा लघु सोऊ॥ १॥
सरद चंद निंदक मुख नीके। नीरज नयन भावते जी के॥ २॥
चितवनि चारु मारमनु† हरनी। भावति हृदय जाति नहिं बरनी॥ ३॥

शब्दार्थ—**निंदक**=तिरस्कार करने, नीचा दिखानेवाले, **भावते**=अच्छे लगनेवाले, प्यारे।

अर्थ—दोनों मूर्तियाँ सहज ही (बिना शृङ्गारके) मनको हरनेवाली हैं। करोड़ों कामदेवोंकी उपमा दी जाय तो वह भी तुच्छ होगी॥ १॥ दोनों भाइयोंके नीके सुन्दर मुख शरद्के पूर्णचन्द्रकी अत्यन्त निन्दा करनेवाले अर्थात् उसको नीचा दिखानेवाले हैं। सुन्दर नेत्र शरद्कमलके निन्दक हैं और जीके 'भावते हैं'॥ २॥ सुन्दर चितवन कामके भी मनको हरनेवाली है, हृदयको भाती है, कही नहीं जाती॥ ३॥

टिप्पणी—१(क) *'सहज मनोहर मूरति'* इति। भाव कि दोनों भाई मुनिके साथ, जैसे उस समय साधारण शृङ्गार किये बैठे थे वैसे ही, चले आये हैं, कोई विशेष शृङ्गार इस समय नहीं किये हैं तो

* चौर्य्य विद्या किन चौदह विद्याओंमें है, यह हमको नहीं मिला। ६४ कलाओंमें अवश्य एक कला यह है।

† मद—१७०४ (शं० चौ०)। मनु १६६१, १७२१, १७६२, छ०, को० रा०, रा० प०।

भी मनको हर लेते हैं। ☞ 'पहले *'बिस्वबिलोचनचोर'* कहकर अब *'मनोहर'* कहनेका भाव कि प्रथम देखा जाता है, तब मन हरण होता है। प्रथम नेत्रको चुरा लिया। फिर मनको हर लिया। तात्पर्य कि बाहर और भीतरकी इन्द्रियोंमें यही दो प्रबल हैं सो वे अपनी सुन्दरतासे इन दोनोंको आकर्षित कर लेते हैं। यथा *'बालक बृंद देखि अति सोभा। लगे संग लोचन मनु लोभा।'* (२१९। २) *'मुदित नारिनर देखहिं सोभा। रूप अनूप नयन मनु लोभा॥'* (२। २१५) (ख) *'लघु सोऊ'* कथनसे पाया गया कि कोटि कामकी उपमा बड़ी भारी उपमा है सो भी इनके सौन्दर्यके आगे मात है। पूर्व रंगभूमिमें आनेपर *'मनहुँ मनोहरता तन छाए।'* (२४१। १) अर्थात् इनके अङ्ग-अङ्ग मनोहरतासे पूर्ण हैं। अब यहाँ नखशिख-वर्णनमें उस मनोहरताको अनुपम बताते हैं। (ग) *'सरद चंद निंदक'* इति। कामकी उपमा कहकर अब चन्द्रमाकी उपमा कहते हैं, क्योंकि सुन्दरतामें चन्द्रमाकी भी गिनती है। यथा *'सुषमा सील सनेह सानि मनो रूप बिरंचि सँवारे। रोम रोमपर सोम काम सतकोटि बारि फेरि डारे।'* (गी० १। ६६। १०) (घ) शरद्, निंदक और नीके ये तीन शब्द कहकर तब *'नीरज नयन'* इतना ही कहा, क्योंकि प्रथम कह देनेसे यहाँ भी तीनोंका ग्रहण हो चुका। शरद्-कमलकी उपमा नयनकी है, यथा *'सरद सरबरी नाथ मुख सरद सरोरुह नयन।'* (२। ११६) (ङ) *'भावते जी के'* अर्थात् नेत्रोंकी शोभा जीमें है, मुखसे कहते नहीं बनती और मुखकी छबि जीमें है पर कहते नहीं बनती, यथा *'मुख छबि कहि न जाति मोहि पाहीं।'* ☞इस तरह इस अर्द्धालीका अन्वय यह है—*'नीके मुख सरदचंद निंदत नीके नयन सरद नीरज निंदत।'*

नोट—१ बैजनाथजी लिखते हैं कि 'शरच्चन्द्रनिन्दक' कहकर जनाया कि निर्मल पूर्ण प्रकाशमान प्रसन्न मुख अपने गुणोंसे चन्द्रमाके कलङ्की, दिनमें मलिन, राहुसे सदा सभीत इत्यादि अवगुणोंको दरसाता है। सुचारु कर्णपर्यन्त दीर्घ रतनारे समशील और रसीले नेत्र अपने गुणोंसे कमलके निशामें संपुटित होना, शीतसे सदा सभीत रहना इत्यादि अवगुणोंको दर्शित करता है। (वै०)

नोट—२ पाँड़ेजी लिखते हैं कि *'नीके'* का अन्वय शरच्चन्द्रः मुख, नीरज और निन्दक इन सबोंके साथ है *'निन्दक'* भी दोनोंके साथ है। मुख शरच्चन्द्रका और नयन कमलका निन्दक है। जब दोनोंकी उपमाएँ नष्ट हो गयीं तब केवल कविके *'जीके भावतें'* रह गया' (—केवल कविके जीका भाव रह गया) ['मुखचन्द्र नयन कमलको प्यार कर अपनेहीमें सदा बसाये रहता है। यह उत्तमता है जिससे मुख शरद्चन्द्रको लज्जित करता है।' (वै०) पुनः *'भावते जीकें'*=जीवमात्रको भले लगते हैं, भाव कि सब जीवोंपर दयादृष्टि किये हैं। (वै०) कमलसे नेत्रोंमें विशेषता यह है कि इनमें चितवन है, जो कमलमें नहीं है। (वि० त्रि०)

टिप्पणी—२ (क) *'चितवनि चारु'* इति। नेत्रोंकी सुन्दरता कहकर अब नेत्रोंके चितवनकी सुन्दरता कहते हैं। कामदेव अपनी सुन्दरतासे जगन्मात्रका मन हर लेता है सो उसके भी मनको श्रीरामजीकी चितवन हर लेती है। जैसे नेत्रोंकी शोभा जीको भाती है पर कहते नहीं बनती, वैसे ही उन-(नेत्रों-) के चितवनकी भी शोभा हृदयमें भाती है, वर्णन नहीं की जाती। *'नीरज नयन भावते जी के'* यह नेत्रकी शोभा कहकर *'चितवनि चारु मार……'* यह उसके कार्यकी शोभा कही। ☞इसी तरह यहाँ *'सरदचंद निंदक मुख नीके'* कहकर आगे मुखके कार्यकी शोभा कहते हैं—*'सुंदर मृदु बोला।'*

नोट—३ बैजनाथजी कहते हैं कि *'चारु'* से सुन्दर सम (तिरछी नहीं) चितवनका अर्थ होगा। भाव यह है कि सम होनेपर भी कामको जो अपने बाणोंका मद है उसको भी मिटा देती है।' वे *'मद'* पाठ देते हैं। सं० १६६१ की तथा काशिराजकी रामायणपरिचर्याका पाठ *'मनु'* है और यही उत्तम है। इसकी उत्तमता ऊपर टिप्पणीमें दिखा आये। जब कामका ही मन हरण हो जाता है तब जगत्के अन्य प्राणियोंका कहना ही क्या! मन सब इन्द्रियोंका राजा है, नेत्र उसके मन्त्री हैं। यथा—*'मन सों और महीप नहिं दृग सों नहीं दिवान। दृग दिवान जेहि आदरै मन तेहि हाथ बिकान॥'* (रहीम)।

नोट—४ *'भावति हृदय जाति नहिं बरनी'* अर्थात् मन, बुद्धि, चित्त और अहंकार सब उसीके दर्शनमें आसक्त हो गये, तब वर्णन कैसे हो और कौन करे?

कल कपोल श्रुति कुंडल लोला। चिबुक अधर सुंदर मृदु बोला॥ ४॥
कुमुदबंधु कर निंदक हासा। भृकुटी बिकट मनोहर नासा॥ ५॥
भाल बिसाल तिलक झलकाहीं। कच बिलोकि अलि अवलि लजाहीं॥ ६॥

शब्दार्थ—लोल (सं०)=हिलता, डोलता, चंचल। यथा *'भाल तिलक कंचन किरीट सिर कुंडल लोल कपोलनि झाँईं। निरखहिं नारि निकर बिदेहपुर निमिनृपकी मरजाद मिटाई॥'* (गी० १। १०। ६)

अर्थ—सुंदर गाल हैं। सुन्दर कानोंमें सुन्दर चंचल कुण्डल (गालोंपर) झूम रहे हैं। ठोढ़ी और ओंठ सुन्दर हैं। सुन्दर कोमल बोली है॥ ४॥ हँसी चंद्रकिरणकी निन्दा (तिरस्कार) करनेवाली है। भौंहें टेढ़ी हैं, नाक सुन्दर हैं॥ ५॥ ऊँचे चौड़े ललाटपर तिलक झलक (दीप्तिमान् हो) रहे हैं। बालोंको देखकर भ्रमरावली (भ्रमरोंकी पंक्ति-की-पंक्ति) लजा जाती है॥ ६॥

टिप्पणी—१ (क) कपोलोंकी सुन्दरता कहकर श्रुति-(कान-) में कुण्डल कहते हैं। तात्पर्य कि एक तो कपोल स्वयं सुन्दर हैं, दूसरे उनके ऊपर चंचल कुण्डलोंकी शोभा हो रही है, इधर-उधर देखनेपर वे हिलते हैं और उनका प्रतिबिम्ब कपोलोंपर पड़ता है। यथा—*'भाल तिलक कंचन किरीट सिर कुंडल लोल कपोलन्ह झाँईं।'* (गीतावली) (ख) *'श्रुति कुंडल'* कहनेसे सूचित होता है कि कनकफूल उतारकर कुण्डल पहन लिये हैं, क्योंकि यह राजाओंका समाज है, सभी राजा कुण्डल पहने हैं। (ग) *'चिबुक अधर सुंदर'* इति। ओष्ठकी सुन्दरता उसकी अरुणाई है; यथा—*'देखत अधरनकी अरुनाई। बिंबाफल जनु रहे लजाई॥'* मृदु होना बोलकी सुन्दरता है। ☞*'सरद चंद निंदक मुख नीके'* में समस्त मुखमंडलकी शोभा कही गयी और यहाँ केवल मुखकी शोभा कहते हैं। अधर, बोल, हास्य ये केवल मुखकी शोभा हैं। [☞*'सुन्दर मृदु बोला'* कहकर श्रीमद्गोस्वामीजी जना रहे हैं कि श्रीरामचन्द्रजी कुछ-कुछ बातें कर रहे हैं, यथा—*'भाई सों कहत बात कौसिकहि सकुचात बोल घनघोरसे बोलत थोर थोर हैं। सनमुख सबहि बिलोकत सबहिं नीके कृपा सों हेरत हँसि तुलसीकी ओर हैं॥'* (गी० ७१) अर्थात् विश्वामित्रजीका संकोच है, इससे थोड़ा-थोड़ा बोलते हैं और कभी बोलते-बोलते किंचित् हँसी आ जाती है। वही हँसी कुमुद-बन्धु-करका निन्दक है।]

टिप्पणी—२ (क) मुखसे हास है, चन्द्रसे किरण है। 'हास' को किरण अन्यत्र भी कहा है, यथा *'सूचत किरन मनोहर हासा॥'* (१९८। ७) मुख चन्द्रका निन्दक है तो हास किरणका निन्दक है। कारणका तिरस्कार कारणसे और कार्यका तिरस्कार कार्यसे दिखाया। परस्पर दोनों भाई वार्ता करते हैं, प्रयोजन पड़नेपर हँसते भी हैं। (ख) *'कुमुदबंधु'* का भाव कि सब राजा कुमुद हैं, यथा *'सकुचे सकल भुआल जनु बिलोकि रबि कुमुदगन॥'* (२६४) *कुमुदबंधु कर निंदक हासा'* का भाव कि जब हास्यसे कुमुदबन्धुका तिरस्कार हुआ तब निश्चय है कि हास्यसे कुमुदगण भी निन्दित किये जायँगे। अर्थात् सब राजाओंकी हँसी होगी। (चन्द्रमा कुमुदको विकसित करता है, इसीसे उसे कुमुदका भाई कहा। आपत्तिमें भाई ही सहाय होते हैं), (मुखपर प्रकाश हँसीसे ही आता है। इसीसे हँसीको चाँदनीका निन्दक कहना प्राप्त है। वि० त्रि०)। (ग) *'भृकुटि बिकट'* इति। विकट (टेढ़ा) होना अवगुण है पर भौंहका विकट होना ही गुण है, यथा— *'भृकुटि मनोज चाप छबि हारी'* *'मुकुर निरखि मुख राम भ्रूगनत गुनहि दै दोष। तुलसीसे सठ सेवकन्हि लखि जनि परै सरोष॥'* (दोहावली) (घ) *'मनोहर नासा।'* मंदोदरीने रावणसे विश्वरूप रघुवंशमणिके वर्णनमें नासिकाको अश्विनीकुमार कहा है, यथा—*'जासु घ्रान अस्विनीकुमारा।'* इससे पाया गया कि नासिका अत्यन्त सुन्दर है, क्योंकि अश्विनीकुमार सब देवताओंसे सुन्दर हैं। श्रीजनक महाराजने विश्वामित्रजीसे दोनों राजकुमारोंका परिचय पूछते हुए उनके रूपको अश्विनीकुमारोंके समान कहा है; यथा—'**इमौ कुमारौ भद्रं ते देवतुल्यपराक्रमौ॥ गजतुल्यगती वीरौ शार्दूलवृषभोपमौ। अश्विनाविव रूपेण समुपस्थितयौवनौ॥**' (वाल्मी० १। ५०। १७-१८) इससे भी अश्विनीकुमारोंका परम सुन्दर होना पाया जाता है।

टिप्पणी—३ (क) *'भाल बिसाल'* यह भालकी शोभा है। *'भाल बिसाल तिलक झलकाहीं'* से

जनाया कि समस्त भालदेशमें तिलकका प्रकाश फैला हुआ है; यथा—'*तिलक ललाट पटल दुतिकारी।*' (१४७। ४) '*झलकाहीं*' बहुवचन क्रिया देकर दोनों भाइयोंका तिलक कहा। (ख) '*अलि अवलि लजाहीं*' से सूचित किया कि अगणित भ्रमरोंके एकत्रित होनेपर कुछ उपमा हो सकती है, क्योंकि केश बहुत दूरतक (कंधोंतक लटके हुए) हैं और भ्रमर छोटा होता है। जब बहुत-से एकट्ठे हों तब बराबर होनेपर कुछ कहा जा सके, यथा—'*कुटिल केस जनु मधुप समाजा।*' इसीसे '*अलि अवलि*' कहा इस उपमासे केशोंकी श्यामता, चिक्कनता और चमक कही। (केश घुँघराले होनेसे '*अलि अवलि*' का लजाना कहा)।

टिप्पणी—४ ☞ मिलान कीजिये—'*भृकुटि भाल बिसाल राजत रुचिर कुंकुमु रेखु। भ्रमर द्वै रबि किरन लाए करन जनु उन्मेषु॥*' (गीतावली ७। ९)

पीत चौतनी सिरन्हि सुहाई। कुसुमकली बिच बीच बनाई॥ ७॥
रेखैं रुचिर कंबु कल गीवाँ। जनु त्रिभुवन सुषमा की सीवाँ॥ ८॥

शब्दार्थ—**कुसुम**—यह दो प्रकारका होता है। यहाँ उस पौधेके फूलसे तात्पर्य है, जिसमें प्रायः काँटे नहीं होते और जिनके फूलोंसे बढ़िया लाल रंग निकलता है। यहाँ लाल फूल ही अभिप्रेत है।

अर्थ—चौगोशिया पीली टोपियाँ सिरोंपर शोभित हैं, जिनके बीच-बीचमें कुसुमकी कलियाँ बनायी गयी हैं॥ ७॥ शङ्खके समान सुन्दर गलेमें सुन्दर (तीन) रेखाएँ मानो तीनों लोकोंकी परमा शोभाकी सीमा (मर्याद, हद) हैं॥ ८॥

टिप्पणी—१ (क) '***पीत चौतनी सिरन्हि सुहाई***' इति। सिरपर श्याम केश हैं, श्यामपर पीत रंग सोहता है और पीतपर लाल रंग शोभा देता है, इसीसे उसमें कुसुमकी कलियोंका कढ़ा होना कहा। कुसुम लाल फूलका वाचक है। पीत चौतनीपर लाल-लाल कलियाँ कुछ-कुछ दूरीपर कढ़ी हुई सोह रही हैं। पुनः भाव कि सिर ऐसे सुन्दर हैं कि उनपर जो टोपियाँ पहनी गयी हैं, वे भी सुन्दर हो गयी हैं। पुनः भाव कि सिरकी सुन्दरता प्रथम ही कह आये हैं कि '***भाल बिसाल तिलक झलकाहीं। कच बिलोकि अलि अवलि लजाहीं।***' अब टोपीकी सुन्दरता कहते हैं कि पीत हैं और उनमें कलियाँ बनी हैं; तात्पर्य कि टोपियाँ अपने स्वरूपसे सुन्दर हैं और सिर पाकर और भी सुन्दर हो गयी हैं। (ख) '***बनाई***' शब्द देकर सूचित किया कि रेशमसे कलियाँ काढ़ी गयी हैं, साक्षात् फूलकी कलियाँ नहीं हैं। यदि साक्षात् फूलकी होतीं तो '***लगाईं***' कहते। '***बिच बीच***' से जनाया कि सघन नहीं हैं। [(ग) पंजाबीजी कहते हैं 'चौतनी रंगदार पगड़ी है। षोडशवर्षकी अवस्था और राजसमाजमें रघुकुलतिलकके सिरपर टोपी कहते नहीं जँचता।' और संत श्रीगुरुसहायलाल 'कमरखी ताज, चौगसी और कालिबपर चढ़ी हुई टोपी' अर्थ करते हैं। बाबा हरिहरप्रसादजी कहते हैं कि 'ये चक्रवर्ती राजकुमार हैं, इनके सामने दूसरेका टोपी पहनना अनुचित है और ये तो सबके सिरताज हैं, इनको ताज ही फबता है।' विशेष दोहा २१९ और २३३ (२) में देखिये।]

टिप्पणी—२ (क) '***रेखैं रुचिर कंबु कल गीवाँ***' इति। कण्ठ शंख-समान हैं, यह कहकर रेखाओंकी भी संख्या जना दी कि तीन हैं। आगे उत्प्रेक्षामें '***त्रिभुवन***' शब्दसे यह बात स्पष्ट कर दी गयी है। '***रुचिर***' विशेषण देकर रेखाओंकी शोभा कही और '***कल***' से कण्ठकी शोभा कही। कण्ठकी उपमा शंखकी दी और रेखाओंकी उपमा त्रिभुवनकी परमा शोभाकी सीमाकी दी। अर्थात् रेखाएँ तीनों लोकोंकी शोभाकी अवधि हैं। पर रेखाओंका आधार कण्ठ है, इस तरह जनाया कि तीनों लोकोंकी परमा शोभा कण्ठमें है तब और अङ्गोंकी शोभा कौन कह सके। पुनः भाव कि '***रेखा सीव***' (सीव) की आकार है, कण्ठ शंखकी आकार है, आकार समझकर उपमा दी। (?) [त्रिपाठीजी लिखते हैं कि '***पद पाताल सीस अजधामा***' कहा गया है, अतः त्रैलोक्यकी शोभा गलेके नीचे-ही-नीचे है। सातों पाताल उनके उरःस्थलतक हैं। इसके ऊपर महः, जनः, तपः और सत्यलोक ये चारों ब्रह्मलोकके भेद हैं। ग्रीवा महर्लोक, मुख जनलोक है, ललाट तपलोक है और शीर्ष सत्यलोक है। यथा '**उरःस्थलं ज्योतिरनीकमस्य ग्रीवा**

महर्वदनं वै जनोऽस्य। तपो रराटीं विदुरादिपुंसः सत्यं तु शीर्षाणि सहस्रशीर्ष्णः।' (भा० २। १। २८) अतः उन-उन लोकोंकी शोभा उन-उन अङ्गोंमें है। महर्लोकके नीचे त्रिलोक है। अतः ग्रीवाकी तीन रेखाओंको त्रिभुवनकी शोभाकी सीमा होना पूर्णतः उपयुक्त है।]

दो०—कुंजरमनि कंठा कलित उरन्हि तुलसिका माल।
बृषभ कंध केहरि ठवनि बलनिधि बाहु बिसाल॥ २४३॥

शब्दार्थ—कलित=सुन्दर, सुसज्जित, सुशोभित। ठवनि=खड़े होनेकी शान और अङ्ग-संचालनका ढब। मुद्रा।

अर्थ—गजमुक्ताओंका सुन्दर कंठा (गलेमें) है और हृदय-(वक्षःस्थलों-) पर तुलसीके दलों और मंजरीकी माला सुशोभित है। वृषभ-(बैलों-) के-से (ऊँचे, चौड़े, मोटे और पुष्ट) कन्धे हैं। खड़े होनेकी शान एवं अङ्ग-संचालनका ढब सिंहका-सा है। भुजाएँ बहुत बड़ी और बलकी निधान (समुद्र) हैं॥ २४३॥

टिप्पणी—१ मिलान कीजिये—*'उर बिसाल वृषकंध सुभग भुज अति बल पीत बसन उपबीत कण्ठ मुकुताफल।'* इति। (गीतावली) २—कंठा कण्ठका आभूषण है, कंठा कहनेहीसे कण्ठका बोध हो गया, इसीसे कण्ठका नाम यहाँ न लिखा। पहले कण्ठका वर्णन किया—*'रेखैं रुचिर कंबु कल गीवाँ'* पर वहाँ कण्ठका कुछ आभूषण न कहा था। भूषणका वर्णन न होनेसे संदेह होता कि गला खाली है, इसीसे कण्ठ कहकर अब यहाँ उसका आभूषण कहा। जिसमें बड़ी-बड़ी गुरियाँ होती हैं वह कंठा कहलाता है, छोटी गुरियोंवालेको कंठी कहते हैं। ३—*'उरन्हि तुलसिका माल'*; यथा—*'कंबु कंठ उर बिसाल तुलसिका नवीन माल, मधुकर बर बास बिबस उपमा सुन सो री। जनु कलिंदजा सुनील सैल तें धसी समीप, कंदबृंद बरसत छबि मधुर घोरि घोरी।'* इति। (गीतावली ७। ७) ४—*'केहरि ठवनि'* इति। ठवनि=खड़ा होना। श्रीरामजी आकर रंगभूमिमें सिंहकी तरह खड़े हुए। यथा—*'ठाढ़े भये उठि सहज सुभाए। ठवनि जुवा मृगराजु लजाए॥'* (२५४। ९) अर्थात् उनका खड़ा होना जवान सिंहको लज्जित करता है। पुनः, यथा—*'गयो सभा दरबार तब सुमिरि रामपदकंज। सिंहठवनि इत उत चितव धीर बीर बलपुंज॥'* (६। १८) अङ्गद सभाके दरवाजेपर रामजीके चरणकमलोंको सुमिरकर सिंहठवनि अर्थात् सिंहसमान खड़े होकर इधर-उधर देखने लगे। [ठवनि (सं० स्थापन)=बैठने या खड़े होनेका ढंग; अङ्गके संचालन वा स्थितिका ढब'—(श० सा०)। खड़े होनेकी शान, ऐंड़—(पोद्दारजी) बैजनाथजी लिखते हैं कि सिंहकी निःशङ्कता आपके अङ्गोंसे दर्शित होती है।] ५-*'बलनिधि'* अर्थात् बलके समुद्र हैं, इसी समुद्रमें शंकरचापरूपी जहाज डूबेगा। यथा—*'संकरचाप चहाज सागर रघुबर बाहु बल।'* यही अभिप्राय दरसानेके लिये यहाँहीसे भुजाओंको समुद्रका रूपक दे चले।

नोट—यहाँ गजमुक्ता और तुलसीकी माला दोनों लिखे गये। पहिला राजचिह्न है और दूसरा ऋषिके शिष्य होनेका चिह्न है। सम्भव है कि दोनों चिह्न उस समय भी थे जब श्रीजनकमहाराज महर्षि विश्वामित्रका आगमन सुनकर उनको लाने गये थे। इसे भी देखकर उन्होंने मुनिसे कहा हो, *'कहहु नाथ सुंदर दोउ बालक। मुनिकुलतिलक कि नृपकुलपालक॥'* पाँड़ेजी कहते हैं कि राजकुमार पितासे दूर हैं, इससे उन्होंने राजकुमार होनेका चिह्न कण्ठमें अदेख (अदृश्य) रखा है और मालाको गुरुजीके निकट होनेके कारण बार-बार देखते हैं। भुजाओंकी ग्रन्थमें कई उपमाएँ हैं। यथा—*'करिकर सरिस सुभग भुजदंडा॥'* *'स्याम सरोज दाम सम सुंदर। प्रभुभुज करिकर सम दसकंधर॥'* *'काम कलभ कर भुज बल सींवा॥'* ये कोई उपमाएँ न देकर यहाँ निधिकी उपमा दी, जिसका कारण टिप्पणीमें लिखा जा चुका है। *'उरन्हि तुलसिका माल'* से शृङ्गारकी पूर्णता कही।

कटि तूनीर पीत पट बाँधें। कर सर धनुष बाम बर काँधें॥ १॥
पीत जग्य उपबीत सुहाए। नखसिख मंजु महाछबि छाए॥ २॥

अर्थ—कमरमें तरकश और पीताम्बर बाँधे हुए हैं। दहिने हाथमें बाण हैं और सुन्दर श्रेष्ठ बायें कन्धेपर धनुष है॥ १॥ पीले यज्ञोपवीत सुन्दर लग रहे हैं। नखसे लेकर शिखातक सब अङ्ग सुन्दर हैं, उनपर महाछबि छाई हुई है॥ २॥

टिप्पणी—१ (क) प्रथम *'तूनीर'* कहकर पीछे *'पीतपट'* कहनेसे सूचित हुआ कि प्रथम तरकश बाँधा, फिर उसके ऊपरसे पीताम्बर बाँधा है। और कहीं-कहीं पीतपटके ऊपर तरकश बाँधते हैं, यथा—*'पीत बसन परिकर कटि भाथा॥'* (२१९। ३) जहाँ जैसा बाँधते हैं वहाँ वैसा ग्रन्थकार लिखते हैं [पुनः, *'पीत बसन······'* यह नगरदर्शन-समयका स्वरूप है। वहाँ केवल नगर देखना था। इससे वहाँ तरकश पीताम्बरसे ढका हुआ था। पहले पीतपट ही देख पड़ा, अतः वहाँ पीतपटको पहले लिखा और तरकशको पीछे। और यहाँ राजसमाजमें धनुष तोड़ना है जो वीरोंका काम है, अतः यहाँ तूणीरको कमरमें पीताम्बरसे बाँधा है, जिससे तरकश ही प्रथम देख पड़ा, जो वीरका बाना है। (प्र० सं०)] (ख) *'धनुष बाम बर काँधें'।* धनुष बायें हाथमें लिया जाता है सो बायें कन्धेपर है। बाण दहिने हाथमें लिया जाता है सो दहिनेमें लिये हैं, यह बात धनुषके साथ *'बाम बर काँधें'* कहनेसे ही विदित हो गयी। प्रथम बाहुको बलनिधि और विशाल अर्थात् जानुपर्यन्त लम्बी कहा, पर उनमें कुछ धारण करना न कहा था, अब बाण धारण करना कहा। इसी तरह प्रथम कंधोंकी शोभा कहकर अब उनमें धनुषका धारण करना कहा। ☞(ग) यहाँ तरकशके ऊपर पीताम्बर बाँधनेमें भाव यह है कि वीरोंके समाजमें वीरोंका बाना खुला रहे, कोई व्यवधान न हो। अन्तमें वीररसका प्राबल्य इस बातका संकेत है कि धनुष यही तोड़ेंगे।

टिप्पणी—२ (क) बायें कंधेमें धनुष कहकर अब यज्ञोपवीत कहनेसे पाया गया कि यज्ञोपवीत भी उसी कंधेपर है। (ख) ☞पीतरंग वीरोंका बाना है, इसीसे यहाँ स्वरूपके वर्णनमें सब पीत-ही-पीत रंगका साज है। यथा—*'पीत चौतनी सिरन्हि सुहाई' 'कटि तूनीर पीत पट बाँधें'* तथा *'पीत जग्य उपबीत सुहाए॥'* सिरसे कटितक सब पीत-ही-पीत दिखायी देते हैं। इस तरह सिरसे कटितक वीररसका शृङ्गार है। वीररसमें सिरसे कटितकका वर्णन होता है, अतएव कटितकका शृङ्गार वर्णन किया। शेष अङ्गोंकी शोभा *'नखसिख मंजु······'* से जना दी जिसमें यह संदेह न हो कि वे सुन्दर नहीं हैं। (त्रिपाठीजी कहते हैं कि 'अभी यज्ञकी रक्षा करके चले आ रहे हैं, भेंटमें ब्राह्मणोंसे यज्ञोपवीत मिला है, उसे पहने हैं। आजका पीत यज्ञोपवीत भी जीतका ही चिह्न है।' पर जहाँ-जहाँ वर्णन मानस तथा गीतावली आदिमें मिलता है, सदा पीत यज्ञोपवीत ही पाया जाता है। श्वेत या लाल आदि नहीं पाया जाता।) (ग)*'नखसिख मंजु'* इति। सिरसे कटितक सुन्दरता कही। कटिके नीचेका वर्णन न हुआ। इसीसे कहते हैं कि *'नखसिख मंजु······।'* प्रथम सिरसे वर्णन उठाया था, अब नखसे वर्णन उठाया; इस तरह नख और शिखा दोनोंकी प्रधानता कायम रही, एक बार उसे प्रथम कहा तो दूसरी बार इसे। (घ)—*'मनहुँ मनोहरता तन छाए॥'* (२४१। १) उपक्रम है और *'नखसिख मंजु महाछबि छाए'* उपसंहार है। ☞यहाँतक रूपका वर्णन हुआ। [श्रीसीताजी स्वयं महाछवि हैं, यथा—*'छबिगन मध्य महाछबि जैसी',* और प्रभु *'महाछबि छाए'* हैं, अर्थात् रमानिवास हैं। (वि० त्रि०)]

पं० राजारामशरणजी—१ और भावनाके लोग कम थे, इससे उनका संक्षिप्त संकेत लिखा, परंतु शृङ्गार और वीररसकी भावनाएँ यहाँ स्थायी हैं, इससे उसी प्रकार नखशिख वर्णन लिखा। २—इस नखशिख वर्णन और फुलवारीवाले नखशिख वर्णनका अन्तर विचारने योग्य है तभी कविकी कलाकी सुकुमारताका आनन्द मिलेगा। कि सूक्ष्म-से-सूक्ष्म अन्तरको कवि दिखा देता है। एक-एक अंग लेकर तुलना करने योग्य है, परन्तु विस्तारभयसे केवल संकेत किया जाता है। ३—*'सहज मनोहर मूरति दोऊ'* में साफ बता दिया कि शृङ्गारमें कृत्रिमता नहीं है। एक अंग्रेजी आलोचकने ठीक कहा है कि बहुधा प्रेमिकका हृदय सहज व्यवहारमें भी मनोहर उद्योग देखता है। यहाँके नखशिख वर्णनमें भी कुछ अंश इसी भावनाका है।

प० प० प्र०—*'राजत राजसमाजु······'* (२४२) से यहाँतक युगल राजकिशोरोंके रूपका वर्णन है। पूर्वके दोहा २३३ में भी दोनोंका वर्णन है। दोनोंका मिलान करना बड़ा आनन्ददायक और तुलसी-काव्य-कला निदर्शक है। दोहा २३३ वाला वर्णन आदिसे अन्ततक वीररस प्रधान है और यहाँ आरम्भमें शृङ्गाररस ओतप्रोत है। चौ० ५ *'कुमुद बंधु कर निंदक हासा'* से *'कटि तूनीर पीतपट बाँधें। कर सर धनुष बाम बर काँधें॥'* (२४४। १) तक वीररसकी मात्रा बढ़ती जाती है और अन्तमें फिर

शृङ्गार ही प्रधान है। यह भेद साभिप्राय है। भाव यह है कि उनका लावण्य और कोमलता देखकर वात्सल्यादि रसमग्न प्रेमियोंको संशय होगा कि इन कुमारोंसे धनुष कैसे उठ सकेगा। जब वीररसपर दृष्टि जाती है तब धनुर्भङ्गका विश्वास होता है, पर अन्तमें फिर शृङ्गार ही प्रबल होता है जिससे निराशा होती है। प्रेमियोंके हृदयमें आशा-निराशाके, विश्वास-संदेहके कल्लोल उठेंगे, उनके मन झूलेके समान ऊपर-नीचे झूलते ही रहेंगे—यह जनाया है।

देखि लोग सब भये सुखारे। एकटक लोचन चलत* न तारे॥ ३॥

हरषे जनकु देखि दोउ भाई। मुनिपद कमल गहे तब जाई॥ ४॥

अर्थ—देखकर सब लोग सुखी हुए। सब एकटक हो गये अर्थात् उनकी पलकें खुली रह गयीं, गिरती नहीं और नेत्रोंके तारे (पुतलियाँ) नहीं चलते॥ ३॥ राजा जनक दोनों भाइयोंको देखकर हर्षित हुए। तब उन्होंने मुनिके चरणकमलोंको जाकर पकड़ लिये अर्थात् प्रणाम किया॥ ४॥

टिप्पणी—१ (क) *'देखि लोग सब भए सुखारे'* इति। जब श्रीरामजी रङ्गभूमिमें आये तब सब लोगोंका देखना कहा कि सबने अपनी-अपनी भावनानुसार प्रभुकी मूर्ति देखी और अब देखनेपर सुखका होना और सबके सुखकी दशा कहते हैं। (ख) तारे=पुतलियाँ; यथा—*'रुचिर पंलक लोचन जुग तारक श्याम अरुन सित कोए। जनु अलि नलिनकोस महँ बंधुकसुमन सेज सजि सोए॥'* (गी० ७। १२) गोलक-(पुतलियों-) से देख पड़ता है सो वे अचल हो गये और पलकें देखनेमें बाधा डालती हैं सो वे भी अचल हो गयीं। मूर्तिका वर्णन करके सब लोगोंका देखकर सुखी होना कहनेका भाव कि जिनको वह मूर्ति ऐसी देख पड़ी (जैसी *'सहज मनोहर मूरति दोऊ।'* (२४२। १) से यहाँतक वर्णन की गयी है, जो इस ध्यानके उपासक वा अनुरागी थे, जिनको यह ध्यान देख पड़ा) वही सब सुखी हुए (न कि समस्त रङ्गभूमिका समाज)। (ग) प्रथम बार देखनेके प्रसङ्गमें रानियोंको प्रधान रखा था, यथा—*'सहित बिदेह बिलोकहिं रानी। सिसु सम प्रीति न जाति बखानी॥'* इसीसे अब राजाको पृथक् करके कहते हैं। लोग सब एकटक देख रहे हैं, यह दशा जनकमहाराजकी नहीं है, क्योंकि यदि ये भी वैसे ही देखने लगते तो व्यवहार ही बिगड़ जाता। यह समय सावधानीका है, मुनिको प्रणाम करके सादर रङ्गभूमि दिखाकर आसन देना है, अतएव राजाने धीरज धरकर सब व्यवहार यथोचित किया। नहीं तो जनकमहाराज तो सबसे अधिक प्रेमी हैं तथा सबसे अधिक विदेह हो जाया करते हैं। यथा—*'भए बिदेह बिदेह बिसेषी'।* जैसे वे अत्यन्त प्रेमी हैं वैसे ही अत्यन्त सावधान हैं, अतः उन्होंने प्रेमको रोककर व्यवहारको सँभाला, यथा—*'कुसमय देखि सनेह सँभारा। बढ़त बिंध्य जिमि घटज निवारा॥'* [*'हरषे'* से यह भी जनाया कि धनुष तोड़नेकी प्रतीति हुई। ये हमारी प्रतिज्ञा पूरी करेंगे, यह विश्वास हुआ; क्योंकि इनका अमानुष कर्म अहल्योद्धार मुनिसे सुन चुके हैं। अतः हर्षित हुए। (रा० प्र०) 'जानकीमंगल' में राजाने कहा है—*'इन्हहिं देखि भयो मगन जानि बड़ स्वारथ।'* (२८) सत्योपाख्यानमें श्रीजनकमहाराज जब श्रीविश्वामित्रसे प्रथम बार मिलने गये और दोनों राजकुमारोंको देखकर घर लौटे, तब उनके मनमें ये विचार हो रहे थे कि श्रीराम धनुषको अवश्य तोड़ेंगे, मेरे मनोरथ पूर्ण होंगे, इसमें संदेह नहीं है। यथा—'**धनुषो भञ्जनं चैव राम एव करिष्यति॥ २५॥ मनोरथो मदीयस्तु पूर्णोऽभून्नात्र संशयः॥**'(उत्तरार्द्ध अ० ६) सम्भवतः इन्हीं आधारोंपर यह भाव कहा गया है। जानकीमङ्गलमें सखीने महारानी श्रीसुनयनाजीको धैर्य देते हुए कहा है, *'तीनि काल कर ज्ञान कौसिकहि करतल। सो कि स्वयंबर आनहि बालक बिनु बल॥'* (४८)

* पाठान्तर—'एकटक लोचन टरत न टारे' १७०४, को० रा०; ना० प्र०। वीरकविजी कहते हैं कि 'न कोई टारनेवाला है और न टारनेकी आवश्यकता है। अतः 'चलत न तारे' ही उत्तम पाठ है।' १६६१, १७६२, छ०, भा० दा०, पं०, का पाठ 'चलत न तारे' है। वीरकविजीने 'तारे' का अर्थ 'सिलसिला' 'तार' मानकर अर्थ किया है कि 'एकटक हो गयीं, उनका सिलसिला छूटता नहीं'।

त्रिपाठीजी लिखते हैं कि जनकजीका भाव इनके प्रति यह है कि *'ब्रह्म जो निगम नेति कहि गावा। उभय बेष धरि की सोइ आवा॥'* अतः इन्हें देखकर हर्षित हुए।]

प० प० प्र०—अब तो विदेह नहीं हैं, सीताजीके जनक हैं। उन्होंने मानो अबतक दोनों भाइयोंहीको देखा। विश्वामित्र मानो उनके दृष्टिपक्षमें आये ही नहीं। मुनिवर आगे हैं और दोनों भाई सेवक भावसे उनके पीछे हैं, पर प्रीतिकी रीति ही ऐसी है कि प्रीतिके विषयको छोड़कर दूसरा कुछ सूझता ही नहीं। जबसे यज्ञमण्डपमें प्रवेश किया तबसे विश्वामित्रजीका तथा और भी जो मुनिवृन्द साथमें हैं उनका नाम भी नहीं है। दो दिव्य निर्दोष राकाशशि उदित हुए हैं तब आकाशगङ्गाकी तरफ कौन देखेगा?

टिप्पणी—२ *'मुनि पद कमल गहे तब जाई'* इति। श्रीराम-लक्ष्मणजीके चरण न पकड़े क्योंकि माधुर्यमें वे लड़के हैं और लड़कोंके पैर पड़ना शास्त्रविरुद्ध है। मुनिके चरण पकड़नेका भाव कि इन्हीं चरणोंके प्रसादसे आज यह परम लाभ प्राप्त हुआ। [ऋषियों-मुनियों-ब्राह्मणोंको देख चरणस्पर्श करना नीति है। पंजाबीजीका मत है कि श्रीविश्वामित्रजीकी कृपासे इनके दर्शन हुए अतएव (मुनिके) चरण पकड़े। दोनों चरण पकड़नेका भाव कि हमारी दो कन्याएँ हैं उनका विवाह इन दोनोंके साथ हो ऐसी कृपा हो। अथवा, रङ्गभूमि भी देखिये और हमारा वृत्तान्त भी सुनिये, दो बातोंकी बिनती है; अतः दोनों चरण पकड़े। (पं०)। पर रीति दोनों चरण पकड़नेकी ही है न कि एककी]।

करि बिनती निज कथा सुनाई। रंग अवनि सब मुनिहि देखाई॥५॥

अर्थ—बिनती (स्तुति, अपने भाग्यकी प्रशंसा) करके अपनी कथा सुनायी और सब रङ्गभूमि मुनिको दिखायी॥ ५॥

पं० रामकुमारजी—कथा यह सुनायी कि जानकीजीने धनुष उठा लिया तब हमें सोच हुआ कि कन्याके योग्य पति कैसे मिलेगा। रात्रिमें शिवजीने हमें उपदेश दिया कि तुम प्रतिज्ञा करो कि जो इस धनुषको तोड़े वही जानकीको ब्याहेगा। आज्ञा पाकर हमने प्रतिज्ञा की, रङ्गभूमि बनवायी, कृपया चलकर इसे देखिये। अथवा, रङ्गभूमि देखनेकी विनती की और सब कथा सुनायी। विनती करके रङ्गभूमि दिखानेका भाव कि विरक्त महात्मा प्रपञ्च देखनेकी इच्छा नहीं करते। अथवा, विनती-कथा सुनाने और रङ्गभूमि देखने इन दोनों बातोंके लिये की। पुनः, चरण पकड़कर विनती करके तब निज कथा सुनानेका भाव कि विश्वामित्र शैव हैं, अपने स्वामीके धनुषके तोड़नेकी प्रतिज्ञा सुनकर क्रोध न करें, जैसे परशुरामजीने किया है, इसीसे प्रथम विनती करके अपराध क्षमा कराया। (यह भाव कुछ लचर-सा मालूम होता है।) रङ्गभूमि केवल देखनेके लिये बनी है, इसीसे उसे दिखाते हैं।

नोट—१ वाल्मीकीयमें श्रीजनकमहाराजने श्रीविश्वामित्रजीसे स्वयं इस धनुषके सम्बन्धकी कथा इस प्रकार कही है—जिस प्रयोजनके लिये यह धनुष मेरे यहाँ रखा गया उसे सुनिये। निमिमहाराजके कुलमें देवरात नामके एक राजा हो गये हैं। उनको यह धनुष धरोहरके रूपमें मिला था। दक्षयज्ञके विध्वंसके लिये इस धनुषको श्रीशिवजीने चढ़ाया था, यज्ञका नाश करके उन्होंने क्रोधमें भरकर देवताओंसे कहा कि तुम लोगोंने मुझ भागार्थीको यज्ञभाग नहीं दिया, अतः मैं इसी धनुषसे तुम सबोंका सिर काटे डालता हूँ। यह सुन देवता लोग उदास हो गये और किसी तरह उन्होंने शिवजीको प्रसन्न किया। तब शिवजीने यह धनुष देवताओंको दे दिया और देवताओंने हमारे पूर्वजोंके पास उसे रख दिया। (१। ६६। ७—१३) कूर्मपुराणमें भी यह कथा कही जाती है।

परशुरामजीने श्रीरामजीसे इसके सम्बन्धमें यह कहा था कि—ये दोनों धनुष अत्युत्तम दिव्य और लोकोंमें प्रसिद्ध हैं, बड़े दृढ़ हैं, इन्हें विश्वकर्माने बड़े परिश्रमसे सावधानतापूर्वक बनाया था। इनमेंसे देवताओंने एक धनुष (जिसे तुमने तोड़ा है) महादेवजीको दिया जिससे उन्होंने त्रिपुरासुरका नाश किया, और दूसरा विष्णुभगवान्‌को दिया।(वाल्मी० १। ७५। ११—१३) उस समय देवताओंने ब्रह्माजीसे पूछा कि विष्णु और शिवमें कौन अधिक बलवान् है।—**'शितकण्ठस्य विष्णोश्च बलाबलनिरीक्षया।'** (१५) उनका अभिप्राय

समझकर तथा दोनों धनुषोंमें कौन श्रेष्ठ है यह जाननेके लिये ब्रह्माजीने दोनोंमें विरोध करा दिया, जिससे महान् रोमाञ्चकारी युद्ध हुआ। शिवजीका महापराक्रमी धनुष ढीला पड़ गया और विष्णुके हुंकारसे उस समय शिवजी स्तम्भित हो गये। चारणों और ऋषियोंसहित देवताओंने आकर दोनोंसे शान्त होनेकी प्रार्थना की। तब दोनों अपने-अपने स्थानको चले गये। अपनी हार देख शिवजीने क्रुद्ध होकर अपना धनुष बाणसहित राजर्षि देवरातको दे दिया।—'**धनू रुद्रस्तु संक्रुद्धो विदेहेषु महायशाः। देवरातस्य राजर्षेर्ददौ हस्ते ससायकम्।**'(वाल्मी० १। ७५। २०-२१)

हनुमन्नाटक तथा अध्यात्मरामायणका मत है कि इस धनुषसे त्रिपुरासुरका वध भगवान् शङ्करने किया और उसके पश्चात् जनकमहाराजको सौंप दिया था, यथा—'**शम्भौ यद्गुणवल्लीमुपनयत्याकृष्य कर्णान्तिकं भ्रश्यन्ति त्रिपुरावरोधसुदृशां कर्णोत्पलग्रन्थयः। स्वं च स्फालयति प्रकोष्ठकमिमामुन्मुच्य तासामहो भिद्यन्ते वलयानि दाशरथिना तद्भग्नमैशं धनुः।**'(हनु० १। २४) अर्थात् त्रिपुरासुरके रनवासकी स्त्रियोंके कर्णोंके कमलोंकी ग्रन्थियाँ, जिस धनुषकी प्रत्यञ्चाके शिवजीके द्वारा कानपर्यन्त खींचे जानेपर, टूट जाती थीं और जिसकी उसी प्रत्यञ्चाको उतारकर, अपने ही प्रकोष्ठकको आस्फालित करनेके समय उन्हीं स्त्रियोंके कंकण टूट जाते थे, वही शिवजीका धनुष श्रीरामचन्द्रजीने तोड़ डाला। पुनश्च यथा '**भव्यं यत् त्रिपुरेन्धनं धनुरिदम्।**'(हनु० १। ३४) अर्थात् त्रिपुरासुर जिसका ईंधन है वही यह शङ्करका धनुष। पुनश्च, यथा—'**मत्पितामहगेहे तु न्यासभूतमिदं धनुः। ६८। ईश्वरेण पुरा क्षिप्तं पुरदाहादनन्तरम्।**' (अध्यात्मरा० १। ६) अर्थात् पूर्व कालमें श्रीमहादेवजीने त्रिपुरासुरको भस्म करनेके अनन्तर यह धनुष मेरे दादाके यहाँ धरोहररूपमें रखा था। (यह जनकमहाराजने श्रीवसिष्ठजी और श्रीविश्वामित्रजीसे कहा है।) ब्रह्माण्डपुराण और महाभारतमें भी त्रिपुरका नाश करके मिथिलापुरीमें धनुषका रखना कहा है।

श्रीगोस्वामीजीके मतानुसार यह धनुष पुरके पूर्व दिशामें, पुरके बाहर रखा था, वहीं रंगभूमि बनायी गयी थी। शिवजीने इसे त्रिपुरासुरके वधके लिये खास तौरपर बनवाया था, जैसा कवितावलीसे सिद्ध है—'*मयनमहन, पुर-दहन-गहन जानि, आनि कै सबैको सारु धनुष गढ़ायो है। जनक सदसि जेते भले भले भूमिपाल किए बलहीन बल आपनो बढ़ायो है॥ कुलिस कठोर कूर्मपीठ ते कठिन अति*·····' (क० १। १०) मानसमें भी इस धनुषके साथ त्रिपुरारि वा पुरारि शब्दोंका प्रयोग हुआ है। यथा '*सोइ पुरारि कोदंड कठोरा। राजसमाज आजु जोइ तोरा।*' (२५०। ३) '*धनुही सम त्रिपुरारि धनु बिदित सकल संसार।*' (२७१) इससे भी इसीसे त्रिपुरका नाश किया जाना सिद्ध होता है। धनुष जनकजीको सौंप दिया गया था, यह गीतावलीमें भी कहा है; यथा—'*अनुकूल नृपहि सूल-पानि हैं। नीलकंठ कारुन्यसिंधु हर दीनबन्धु दिन दानि हैं॥ जो पहिले ही पिनाक जनक कहँ गए सौंपि जिय जानि हैं। बहुरि तिलोचन लोचनके फल सबहिं सुलभ किए आनि हैं।*' (गी० १। ७८) इस ग्रन्थसे भी यही सिद्ध होता है, यथा—'*सोइ पुरारि कोदंड कठोरा*' इत्यादि।

राजा जनकने विश्वामित्रजीसे धनुषका अपने यहाँ रखे जानेका प्रयोजन कहकर फिर यह भी बताया कि यज्ञके लिये मैं हलसे खेत जोत रहा था। उस समय हलके अग्रभाग-(सीता-) की ठोकरसे एक कन्या पृथ्वीसे निकल आयी, जो अपने जन्मके कारण 'सीता' के नामसे प्रसिद्ध हुई। मैंने इस अपनी अयोनिजा कन्याका शुल्क यही रखा कि जो इस-(धनुष-) को उठाकर इसपर रोदा चढ़ा दे उसीको यह ब्याही जायगी। अनेक राजा आये। कोई भी इसे न उठा सका—'**न शेकुर्ग्रहणे तस्य धनुषस्तोलनेऽपि वा।**' (वाल्मी० १। ६६। १९) उन्होंने इससे अपनेको तिरस्कृत समझ नगरको घेर लिया। एक वर्षतक संग्राम होनेसे मेरे सब साधन नष्ट हो गये, तब मैंने तपस्याद्वारा देवताओंको प्रसन्नकर उनकी चतुरंगिणी सेना प्राप्त कर सबको पराजित किया।—यह वही धनुष है।

सत्योपाख्यानमें श्रीसीतास्वयंवरके विषयमें यह कथा लिखी है कि श्रीजानकीजीकी महिमा देख श्रीसुनयना अम्बाजीने सोचा कि इनका विवाह इन्हींके अनुकूल पुरुषसे करना चाहिये और श्रीशीरध्वज महाराजसे उन्होंने अपना विचार प्रकट किया। राजा भी सहमत हुए और इसी संकल्पसे पृथ्वीपर कुशा बिछाकर उसपर सोये। शिवजीने स्वप्नमें दर्शन देकर यह आज्ञा दी कि तुम जिस हमारे धनुषका पूजन

करते हो उसके विषयमें यह प्रतिज्ञा करो कि जो इसे तोड़ेगा उसीके साथ श्रीजानकीजीका विवाह किया जायगा। यथा—'**धनुर्मदीयं ते गेहे पूजितं तव पूर्वजैः। ३३। तस्य प्रतिज्ञा त्वया कार्या भंगाय तोलनाय च। तोलयित्वा च यो भंगं कारयेद्धनुषो मम। ३४। तस्मै देया त्वया कन्या ह्येवमुक्त्वा गतो हरः।**' (उत्तर० अ० २) सबेरे राजाने यह वृत्तान्त मन्त्रियोंसे कह उनकी सम्मतिसे राजाओंको निमन्त्रण भेजा, वे सब आये। रावणको भी निमन्त्रण गया; उसका मन्त्री प्रहस्त आया था। बाणासुर और काशिराज सुधन्वा भी (जो शिवभक्त थे) आये।……(उत्तरार्ध अध्याय २)। 'धनुष कोई न उठा सका……। सुधन्वाने कहा कि धनुषसहित सीताजीको हमें दे दो, नहीं तो हम तुम्हारा नगर लूट लेंगे। सालभर बराबर लड़ाई होती रही पर राजाने प्रतिज्ञा न छोड़ी। अन्तमें श्रीशिवजीकी कृपासे सुधन्वा मारा गया और काशी नगरी कुशध्वजको दे दी गयी। राजाओंको फिर निमन्त्रण भेजा गया। (अ० ३)

धनुष तोड़नेकी प्रतिज्ञाके सम्बन्धमें और भी कथाएँ हैं—(१) अध्यात्मरा० में पाणिग्रहणके पश्चात् जनकजीने श्रीवसिष्ठजी और श्रीविश्वामित्रजीसे बताया कि एक दिन जब मैं एकान्तमें बैठा हुआ था, देवर्षि नारद आये और मुझसे कहा कि परमात्मा अपने चार अंशोंसहित दशरथपुत्र होकर अयोध्यामें रहते हैं। उनकी आदिशक्ति तुम्हारे यहाँ सीतारूपसे प्रकट हुई हैं। अतः तुम प्रयत्नपूर्वक इनका पाणिग्रहण रघुनाथजीके साथ ही करना, क्योंकि यह पहलेसे ही रामजीकी ही भार्या हैं—'**पूर्वभार्यैषा रामस्य परमात्मनः।**'(सर्ग ६। ६६) देवर्षिके चले जानेपर यह सोचते हुए कि किस प्रकार जानकीजीको रघुनाथजीको दूँ, मैंने एक युक्ति विचारी कि सीताके पाणिग्रहणके लिये सबके गर्वनाशक इस धनुषको ही पण (शुल्क) बनाऊँ। मैंने वैसा ही किया। आपकी कृपासे कमलनयन राम यहाँ धनुष देखनेको आ गये और मेरा मनोरथ सिद्ध हो गया। (२) रानी प्रति दिन चौका दिया करती थीं। एक दिन अवकाश न मिलनेके कारण उन्होंने सीताजीको चौका लगानेको भेजा। इन्होंने धनुष उठाकर उसके नीचे भी चौका लगाया। यह समाचार सुन विस्मयपूर्वक राजाने शिवजीसे प्रार्थना की। (३) 'एक समय जानकीजीने खेलते हुए सखियोंके सामने धनुषको उठा लिया। यह सुन राजाने धनुषभंगकी प्रतिज्ञा की।' (४-५)—पाँड़ेजी कहते हैं कि एक कल्पकी कथा यों है कि राजा जनक अपने महलसे कुछ दूरीपर धनुषकी पूजा करने जाया करते थे। एक दिन सीताजी उनके साथ गयीं। उन्होंने विचारकर कि पिताजी इसीकी पूजाके कारण परिश्रम कर यहाँ आते हैं, वे उसे उठाकर अपने घर ले आयीं। दूसरे कल्पकी कथा यह है कि धनुषके आस-पास सीताजी सखियोंसहित चाई-माई खेल रही थीं, ओढ़नीका अञ्चल धनुषमें अटका और वह स्थानसे हट गया।'''इत्यादि। ऐसा चमत्कार देखकर राजा जान गये कि यह ब्रह्मविद्या (आदिशक्ति) है। जो इस धनुषको तोड़े उसके साथ इसका विवाह करना योग्य है।'

जहँ जहँ जाहिं कुँअर बर दोऊ। तहँ तहँ चकित चितव सबु कोऊ॥ ६॥
निज निज रुख रामहि सबु देखा। कोउ न जान कछु मरमु बिसेषा॥ ७॥

शब्दार्थ—रुख=रुचि, यथा—'*पति रुख लखि आयसु अनुसरेहू॥*' (२। ३३४। ५) '*लखी राम रुख रहत न जाने॥*' (२। ७८। २) '*जो सृजति जग पालति हरति रुख पाइ कृपानिधान की।*' (२। १२६) '*राखि राम रुख धरम ब्रत पराधीन मोहि जानि॥*' (२। २९३) यह फारसी शब्द है जिसका अर्थ है 'मुँह' 'चेहरा'। यथा—'*संकर रुख अवलोकि भवानी। प्रभु मोहि तजेउ हृदय अकुलानी।*' 'रुख' का अर्थ 'तरफ, ओर, सामने' भी है। यथा—'*मनहुँ मघा जल उमँगि उदधि रुख चले नदी नद नारे।*' पुनः '*रुख*' का अर्थ 'भावना' भी ऊपरके प्रसंगानुसार लगा सकते हैं। **चकित**=चकपकाये हुए तथा आश्चर्यान्वित।

अर्थ—जहाँ-जहाँ दोनों सुन्दर श्रेष्ठ राजकुँवर जाते हैं वहाँ-वहाँ सब लोग चकित हो देखने लगते हैं॥ ६॥ सबने रामजीको अपनी-अपनी रुचिके अनुसार एवं अपनी-अपनी ओर मुख किये हुए देखा। किसीने भी कुछ विशेष मर्म (रहस्य, भेद) न जान पाया॥ ७॥

टिप्पणी—१ (क) '*जहँ जहँ जाहिं कुँअर बर दोऊ*''''' इति। '*चकित चितव*' का भाव कि (प्रथम दोनों भाइयोंको दूरसे देखा था, अब) निकट आनेपर शोभा अधिक और भली प्रकार देख पड़ी, इससे

चकित होकर देखने लगे। इसी तरह श्रीजानकीजी जबतक दूरसे देखती रहीं तबतक उनका चकित चितवना (चकित होकर देखना) न कहा, पर जब वे समीप जाकर छबि देखने लगीं तब उनका विदेह होना कहा। यथा—*जाइ समीप राम छबि देखी। रहि जनु कुँअरि चित्र अवरेखी॥*' (२६४। ४) (ख)—'*सब कोऊ*' कहकर जनाया कि दोनों कुँवर सब जगह और सब तरफ गये, कारण कि राजाने मुनिको सारी रंगभूमि चारों तरफ घुमाकर दिखायी, यथा—'*रंग अवनि सब मुनिहि देखाई।*' जहाँ-जहाँ मुनि जाते हैं तहाँ-तहाँ दोनों भाई भी साथ जाते हैं, इसीसे कहा कि '*जहँ जहँ जाहिं*......*चितव सब कोऊ*' (ग) '*कुँअर बर*' का भाव कि जो रूप और गुण पूर्व विस्तारपूर्वक वर्णन कर आये वह सब '*बर*' पदसे ग्रहण कर लिया गया। तात्पर्य कि रूप, गुण और वीरता सभीमें सबसे श्रेष्ठ हैं, इसीसे सब चकित हो देख रहे हैं। (घ) पूर्व कहा था कि '*देखि लोग सब भए सुखारे। एकटक लोचन चलत न तारे॥*' और यहाँ कहते हैं कि '*चकित चितव सब कोऊ।*' भेदमें भाव यह है कि प्रथम जब आकर रंगभूमिमें खड़े हुए तब लोग एकटक देखते रहे और जब रंगभूमि देखने चले तब लोगोंको दर्शनमें विक्षेप पड़ा, एकटक देखना बन्द हो गया। अब जहाँ-जहाँ जाते हैं वहाँ-वहाँके लोग चकित देख रहे हैं, इस भावको दरसानेके लिये प्रथम एकटक देखना कहा और अब चकित होकर देखना कहा।

टिप्पणी—२ (क) '*निज निज रुख*......' इति। रुख=इच्छा।'*कोउ न जान कछु मरमु बिसेषा*' इति। भाव कि सब लोग अद्भुत रूप देखनेमें लगे हैं, कोई अपना हाल दूसरेसे नहीं कहता कि हमको ऐसी मूर्ति देख पड़ती है, बात यह है कि किसीने यह नहीं जाना कि औरोंको और कुछ दिख रहा है। अपने आनन्दमें अथवा भयमें दूसरेसे कौन पूछता और कौन कहता? और श्रीरामजी अपना ऐश्वर्य छिपाते हैं; यथा—'*हरि जननी बहु बिधि समुझाई। यह जनि कतहुँ कहसि सुनु माई॥*' (२०२। ८) '*मास दिवस कर दिवस भा मरम न जानइ कोइ।*' (१९५) '*छन महुँ सबहिं मिले भगवाना। उमा मरम यह काहु न जाना*', '*तेहि कौतुक कर मरम न काहूँ। जाना अनुज न मातु पिताहूँ॥*' (७। ६९) इत्यादि। इसीसे किसीने न जाना। जिसे जैसा देख पड़ा वैसा ही उसने जाना, दूसरेका हाल न जाना—यही 'विशेष मर्म' है। अयोध्याकाण्डमें भी कहा है '*जो जेहि भाय रहा अभिलाषी। तेहि तेहिकै तसि तसि रुख राखी॥*' (२। २४४। २) पुनः (ख)—नवरसमय मूर्ति ऊपर कही गयी, उसमेंसे एक-ही-एक रस सबने जाना।' '*कछु*' का भाव कि नवों रसोंकी कौन कहे एक छोड़ दो रस भी किसीको न मालूम हुए।

नोट—'*रुख*' का दूसरा अर्थ सम्मुख भी किया जाता है, यथा—'*सुरपति बसइ बाँह बल जाके। नरपति सकल रहहिं रुख ताके॥*'—(पाँड़ेजी)। यह फारसी शब्द है। अर्थात् सबको अपने सामने देख पड़े, पीठ किसीकी ओर नहीं। इस अर्थसे '*जिन्हके लहहिं न रिपु रन पीठी*' चरितार्थ होता है। शत्रुने भी पीठ नहीं देखी। यह भी विशेष मर्मकी बात है जो किसीने न जानी कि '*विश्वतोमुख राम*' ये ही हैं। वेदोंके '**सर्वतोऽक्षिशिरोमुखम्**' ये ही हैं। (रा० प्र०) यह अद्भुत रस है। वीरकविके मतसे यहाँ 'तृतीय विशेष अलंकार' है।

प० प० प्र०—'*पुनि मुनिबृंद समेत कृपाला। देखन चले धनुष मख साला॥*' (२४०। ४) के '*कृपाला*' शब्दकी सार्थकता यहाँ बतायी। धनुषमखशाला देखनेके समयमें ही सब लोगोंपर ऐसी कृपा की कि सबको राम-लक्ष्मण अपने सामने देख पड़े। एक अनूठी बात और देखिये कि यहाँ दोहा २४४ में विश्वरूप दिखानेकी लीला की गयी, वैसे ही अयोध्याकाण्डमें भी दोहा २४४ में ही यह लीला की गयी है। यथा '*आरत लोग राम सब जाना। करुनाकर सुजान भगवाना॥ जो जेहि भाय रहा अभिलाषी। तेहि तेहिकै तसितसि रुख राखी॥ सानुज मिलि पलमहुँ सब काहू।*...... *।*' लक्ष्मण भी ऐसे ही देखनेमें आये, यह मानना आवश्यक है, अन्यथा '*कोउ न जान कछु मरमु बिसेषा*' यह असम्भव हो जाता। इस लीलासे दो कार्य सिद्ध हुए—आर्तलोगोंपर कृपा और दुष्ट राजाओंको पीठ न दिखाना।

पं० राजारामशरणजी—१ पहली दो अर्धालियोंके सहारेसे फिल्मकला नवरसोंवाली भावनाको एकको

अनेक मूर्तियाँ दिखा सकती हैं, कारण कि राजकुँवर फिर रहे हैं और इसलिये द्रष्टाओंका समूह बदल रहा है और भावोंके आवरणोंके सहारेसे दृश्य भी। २—कला नाटकीय है, इससे रंगभूमिके दिखानेके बहानेसे राजकुँवरोंका भ्रमण कितना स्वाभाविक है।

भलि रचना मुनि नृप सन कहेऊ। राजा मुदित महासुखु लहेऊ॥ ८॥
दो०—सब मंचन्ह तें मंचु एकु सुंदर बिसद बिसाल।
मुनि समेत दोउ बंधु तहँ* बैठारे महिपाल॥ २४४॥

अर्थ—मुनिने राजासे कहा—रचना बहुत अच्छी है। (रचनाकी प्रशंसा सुनकर) राजा प्रसन्न हुए और उनको महान् सुख प्राप्त हुआ॥ ८॥ सब मंचोंसे एक मंच अधिक सुन्दर, उज्ज्वल (स्वच्छ) और ऊँचा एवं लम्बा-चौड़ा था। जनकमहाराजने मुनिसमेत दोनों भाइयोंको उसपर बैठाया॥ २४४॥

टिप्पणी—१ (क) *'भलि रचना'* इति। इसका प्रसंग ***'करि बिनती निज कथा सुनाई। रंग अवनि सब मुनिहिं देखाई॥'*** पर छोड़ा था। वहींसे इसका सम्बन्ध है। राजाने मुनिको जब सब रंगभूमि दिखा दी, यथा—*'रंग अवनि सब मुनिहि देखाई॥'* तब मुनिने उसकी प्रशंसा की। यदि बीचमें प्रशंसा करते तो सम्भव था कि वे समझते कि कुछ रचना अच्छी है (जिसके सम्बन्धमें वे बोले हैं) और कुछ अच्छी नहीं है, इसीसे उसके सम्बन्धमें उन्होंने कुछ न कहा।—इससे दिखाया कि मुनि व्यवहारमें भी बड़े कुशल हैं। (ख) *'भलि रचना'* अर्थात् सारी रचना बहुत सुन्दर है, सब रंगभूमि विचित्र बनी है, कहीं भी कोई कसर (त्रुटि) नहीं है। (ग) *'राजा मुदित……'*। इति। प्रशंसा करनेसे राजा प्रसन्न हुए, इससे पाया गया कि इसीलिये राजाने रंगभूमि दिखायी थी कि मुनि प्रसन्न हों। राजाने रंगभूमि दिखाकर मुनिको प्रसन्न किया, वैसे ही मुनिने उसकी प्रशंसा करके राजाको प्रसन्न किया। (घ) *'नृप सन कहेऊ'* का भाव कि यदि श्रीरामजी, लक्ष्मणजी या अन्य किसीसे कहते तो पाया जाता कि प्रशंसा केवल राजाको प्रसन्न करनेके लिये की, वस्तुतः कुछ ऐसी बहुत अच्छी नहीं है, स्वयं राजासे कहनेसे पाया गया कि यथार्थ ही कह रहे हैं, केवल राजाके संतोषार्थ नहीं। (ङ)—*'महासुखु लहेऊ'* क्योंकि विश्वामित्रजीको ब्रह्माण्ड रचनेका सामर्थ्य है, (राजा त्रिशंकुके लिये उन्होंने दूसरा स्वर्ग ही रच दिया था,) अतः जब वे ही प्रशंसा कर रहे हैं तो हमारा परिश्रम सफल हो गया, इसमें कोई त्रुटि नहीं है। यह समझकर महान् सुख हुआ। अथवा भाव कि मुनिको रंगभूमि देखनेसे 'सुख' हुआ और राजाको उसकी प्रशंसा सुनकर 'महासुख' हुआ। [दूसरे, मुनि त्रिकालज्ञ हैं, इनकी प्रसन्नतासे हमारी प्रतिज्ञा अवश्य पूर्ण होगी। (पंजाबीजी) *'भलि रचना'* —मुनिके मुखसे निकले शब्द कितने कम पर कितने पूर्ण हैं। मुनि गम्भीर स्वभाव और मननशील होते हैं, अधिक बोलते नहीं। इसीसे राजाको बड़ा सुख हुआ, मानो उनका रचनासम्बन्धी उद्योग सफल हुआ।—(लमगोड़ाजी)]

टिप्पणी—२ *'सब मंचन्ह तें……'* इति। इससे पाया गया कि यह मंच इन्हींके लिये बचा रखा था, रिजर्व कर रखा था। यह सबसे सुन्दर है, अर्थात् इसकी बनावट, कारीगरी औरोंसे विशेष है। विशद है अर्थात् इसमें दिव्य मणियोंका प्रकाश हो रहा है। [सबसे सुन्दर, विशद और विशाल मंचपर बैठानेके कारण ये हैं कि—(क) ये चक्रवर्ती राजकुमार हैं, अतः सब राजाओंसे बड़े हैं। (ख) ये इक्ष्वाकुवंशी हैं जिससे निमिवंश चला, अतः अपने समझकर। (ग) विश्वामित्र महामुनि इनके साथ और सहायक हैं, उनके विचारसे। (घ) दैवयोगसे प्रतीति इनके सामर्थ्यमें हुई, अनायास होनिहारने ऐसा कराके शुभ शकुनकी सूचना दी। क्योंकि जान पड़ता है कि यह मंच धनुष तोड़नेवाले विजयी राजाके लिये ही निर्माण किया गया था, जिसपर धनुष तोड़नेपर वह राजा बिठाया जाता। गीतावलीमें आसनका वर्णन इस प्रकार है—***'सानुज सानंद हिये आगे है जनक लिये, रचना रुचिर सब सादर देखाइ कै। दिए दिव्य आसन सुपास सावकास अति आछे आछे बीछे बीछे बिछौना***

* बर—१७०४।

बिछाइ कै॥ भूपति किसोर दुहूँ ओर बीच मुनिराउ, देखिबेको दाउँ देखो देखिबो बिहाइ कै। उदय सैल सोहैं सुंदर कुँअर जोहैं मानो भानु भोर किरनि छिपाइ कै॥' (१। ८२)]

टिप्पणी—३ (क) *'मुनि समेत दोउ बंधु······'* इति। यहाँ राजाओंकी सभा है, राजाओंकी प्रधानता है, इसीसे *'मुनि समेत'* शब्द देकर यहाँ श्रीराम-लक्ष्मणजीकी प्रधानता कही। इस प्रसंगके प्रारम्भमें भी इनकी प्रधानता २४० (४) *'पुनि मुनिबृंद समेत कृपाला। देखन चले धनुष मखसाला॥'* में कह आये हैं। इस प्रसंगभरमें इन्हींकी प्रधानता है। श्रीरामजी धनुष तोड़ेंगे, इससे वे मुख्य हैं और श्रीलक्ष्मणजीका भी यहाँ बड़ा काम है। श्रीजनकजीके वचनोंपर क्रोध और परशुरामगर्वभंजनमें ये ही तो मुख्य हैं। अतः दोनों भाइयोंकी प्रधानता कही। (ख) *'बैठारे महिपाल'* कहकर जनाया कि औरोंको कामदार, मंत्री, नायक, बंदीगण इत्यादि सेवकोंने बिठाया और इनको स्वयं राजाने बिठाया। यह अत्यन्त आदर-सत्कार—सम्मान है। विश्वामित्रजीके सर्वोत्तम मंचपर आसीन होनेमें किसी राजाको आपत्ति नहीं हो सकती थी। (वि० त्रि०)

नोट—जानकीमंगलमें उपर्युक्त चौपाइयोंसे मिलता हुआ अंश यह है—*'लै चले देखावन रंगभूमि अनेक बिधि सनमानि कै। कौसिक सराही रुचिर रचना जनक सुनि हरषित भए। तब राम लषन समेत मुनि कहँ सुभग सिंहासन दए॥'* (३०) रचनाकी सराहनासे ही दोनों जगह हर्षित होना कहा गया है।

प्रभुहि देखि सब नृप हिय हारे। जनु राकेस उदय भये तारे॥ १॥
असि प्रतीति सब के मन माहीं। राम चाप तोरब सक नाहीं॥ २॥
बिनु भंजेहु भव* धनुष बिसाला। मेलिहि सीय राम उर† माला॥ ३॥
अस बिचारि गवनहु घर भाई। जसु प्रतापु बलु तेजु गँवाई॥ ४॥

शब्दार्थ—**सक** (फा० शक)=संदेह। **भव**=शंकरजी। **मेलना**=डालना।

अर्थ—प्रभुको देखकर सब राजा हृदयमें हार गये अर्थात् निराश हो उदास, उत्साहहीन और मलिन हो गये। (ऐसे मालूम होते हैं) मानो तारे हैं जो पूर्णचन्द्रके उदय होनेसे प्रकाशहीन हो गये हैं वा फीके पड़ गये हैं॥ १॥ सबके मनमें ऐसा विश्वास जम गया है कि श्रीरामचन्द्रजी धनुष तोड़ेंगे। इसमें शक—शुबह (संदेह) नहीं है॥ २॥ शिवजीके भारी धनुषको बिना तोड़े भी श्रीसीताजी श्रीरामचन्द्रके ही गलेमें जयमाल डालेंगी॥ ३॥ हे भाइयो! ऐसा विचारकर अपने यश, प्रताप, बल और तेज़ सब गँवाकर‡ अपने-अपने घर चलो॥ ४॥

टिप्पणी—१ (क) *'प्रभुहि देखि सब नृप हिय हारे······'* इति। यहाँ पूर्वापरप्रसंगका सम्बन्ध मिलाते हैं। *'देखहिं रूप महारनधीरा। मनहु बीररस धरे सरीरा॥'* इसका उपक्रम है। वहाँ राजाओंका प्रभुको देखना कहा था, अब यहाँ बताते हैं कि देखनेपर उनकी क्या दशा हुई। वे श्रीरामजीके तेजविशेषको देखकर सीताजीकी प्राप्तिसे निराश हो गये, जैसा आगे स्पष्ट है। (ख) उपक्रममें भाइयोंको पूर्णचन्द्र कहा था; यथा—*'राज समाज बिराजत रूरे। उडगन महँ जनु जुग बिधु पूरे॥'* यहाँ उपसंहारमें *'राकेश'* शब्द देकर पूर्णचन्द्र जनाया। राका (=पूर्णिमा) + ईश (=स्वामी)=पूर्णचन्द्र। *'राका निशाकरे'*। इति (अमरकोष) (ग) जब मंचपर बैठ गये तब उनका उदय कहा, क्योंकि सूर्य और चन्द्र ऊँचेपरसे उदय होते हैं, यथा—*'उदित उदय गिरि मंचपर रघुबर बाल पतंग।'* (घ) [यहाँ 'उक्तविषया वस्तूत्प्रेक्षा' है। हृदयमें हारनेमें *'प्रभुहि देखि'* पद दिया अर्थात् तेज और सामर्थ्य देख हार गये। 'जानकीमंगल' में राजाओंके निराशाका कारण यह कहा है कि श्रीजनकजी अपना प्रण इनके लिये छोड़ देंगे। यथा—*'भे निरास सब भूप बिलोकत रामहिं। पन परिहरि सिय देब जनक*

---

* शिव धनुक—१७०४। सिव धनुष-रा० प्र०। † जयमाला—१७०४

‡ पं० रामकुमारजीका अर्थ—अपने-अपने घर जाओ, नहीं तो यश, प्रताप, बल, तेज गँवा जायगा।'

बरु स्यामहिं। कहहिं एक भलि बात ब्याहु भल होइहि। बर दुलहिनि लगि जनक अपन पन खोइहि॥' (३६) और साधु राजाओंको ऐसा प्रतीत हुआ कि *'अवसि रामके उठत सरासन टूटिहि। गवनिहि राजसमाज नाक अस फूटिहि॥'*......(३७)]

टिप्पणी—२ *'असि प्रतीति सब के मन माहीं।......'* इति। (क) सब राजा हृदयमें हार गये हैं; इसीसे 'सबके मनमें ऐसा विश्वास होना कहा।' *'हिय हारे'* कहकर अब हृदयकी बात कहते हैं, मन हृदय है। 'राम धनुष निःसंदेह तोड़ेंगे' यह सबके मनमें है। चन्द्रमा मनका स्वामी है, अतः उसने मनमें प्रतीति करायी। (ख) पूर्णचन्द्रकी उपमा देकर जनाते हैं कि विश्वासका कारण श्रीरामजीका तेज है। वे तेजस्वी हैं, चन्द्रमाके समान उनका तेज है, तेजस्वी लघु नहीं होते; यथा—*'बोली चतुर सखी मृदु बानी। तेजवंत लघु गनिय न रानी॥'* (२५६। ७) जैसे चतुर सखीके वचन सुन श्रीसुनयनाजीको प्रतीति हुई—*'सखी बचन सुनि भइ परतीती'*; वैसे ही यहाँ उनका तेज देखकर सब राजाओंको रामजीके धनुष तोड़नेका निश्चय होता है। और मूर्तिमान् वीररस देख पड़ते हैं इससे स्वयं हृदयमें हार गये। ☞यहाँ *'सब'* शब्द उन्हीं राजाओंका बोधक है, जो हृदयमें हार गये हैं। अथवा, विश्वास तो सबके मनमें यही है, पर जो कुटिल भूप हैं वे उसे प्रकट नहीं करेंगे, इसीसे *'मन माहीं'* कहा गया।

टिप्पणी—३ *'बिनु भंजेहु भव धनुष बिसाला।'* इति। 'कहीं निश्चय है, कहीं संदेह है और कहीं निश्चय और संदेह दोनों हैं। जैसे भरतजीके विचारमें कहीं दृढ़ निश्चय और कहीं संदेह कहा गया है, यथा—*'मोरे जिय भरोस दृढ़ सोई। मिलिहहिं राम सगुन सुभ होई॥'* यह दृढ़ता है। और *'बीते अवधि रहैं जो प्राना। अधम कवन जग मोहि समाना॥'* यह संदेह है—वैसे ही यहाँ भी दोनों बातें कहते हैं, एक तो यह कि ये तेजस्वी हैं, अवश्य धनुष तोड़ेंगे। दूसरे, कोमलता, सुकुमारता और भवधनुषकी कठोरताका विचार जब आ जाता है तब कहते हैं कि *'बिनु भंजेहु.....'*। अर्थात् यदि धनुष किसीसे न टूटा, तब क्या सीताजी कुआँरी ही रहेंगी? कदापि नहीं। किसी-न-किसीको अवश्य ब्याही जायेंगी। जयमाल-स्वयंवर होगा। ☞इस तरह यहाँ रणधीर राजा श्रीसीताजीकी प्राप्तिकी दो विधियाँ बता रहे हैं और दोनों प्रकारसे निश्चय कर रहे हैं कि वे श्रीरामजीको प्राप्त होंगी। एक तो धनुषके टूटनेसे (जो मुख्य विधि है)। दूसरे, वे सोचते हैं कि सम्भव है कि उनसे भी धनुष न टूटे। तब भी तो ऐसा सुन्दर पुरुष कोई और नहीं है कि जिसको श्रीजानकीजी जयमाल डालें। अतएव सब प्रकारसे रामजीको ही प्राप्त होनेका निश्चय करते हैं।

टिप्पणी—४ ☞देखिये यहाँ गोस्वामीजीके शब्दोंकी योजना और उनका चमत्कार। जब यह कहा कि 'राम अवश्य धनुषको तोड़ेंगे, इसमें किञ्चित् संदेह नहीं' तब तो धनुषके लिये बहुत हलका और छोटा शब्द *'चाप'* प्रयुक्त किया। अर्थात् उस धनुषमें है ही क्या जो उनसे न टूटे? और जब कहा कि *'बिनु भंजेहु'* अर्थात् उससे न टूटे तब उसके साथ *'भव धनुष बिसाला'* इतने और कठोरतासूचक शब्दोंका प्रयोग किया अर्थात् एक तो यह धनुष *'भव'* (महादेव) का है, दूसरे 'विशाल' है अतः सम्भव है कि न भी टूटे। श्रीरामजी बलवान् हैं, तेजस्वी हैं, वीररसकी मूर्ति हैं, अतएव वे धनुषको तोड़कर श्रीसीताजीको ब्याहेंगे। पुनः वे (श्रीरामजी) परम सुन्दर हैं, अतः श्रीसीताजी उनके ही गलेमें जयमाल डालेंगी। दोनों तरहसे श्रीजानकीजी उन्हींको प्राप्त होंगी।

टिप्पणी—५ *'अस बिचारि गवनहु घर भाई।......'* इति। (क) *'अस बिचारि.....'* अर्थात् विचार करनेपर ऐसी हालतमें यहाँ बैठनेका कुछ प्रयोजन नहीं है। अभी चले जानेसे यशादिमें बट्टा न लगेगा। पीछे टूटनेपर यह कह सकोगे कि हम तो रहे नहीं। (ख) मनमें जो प्रतीति रही वही मनका विश्वास. अब वचनसे सबको सुनाकर कहते हैं, अतः कहा कि *'अस बिचारि.....'* (ग) यश, प्रताप, बल और तेज राजाओंमें होता है, इसीसे उनका नष्ट होना कहते हैं। यश नष्ट होनेपर प्रताप नष्ट होता है, प्रताप नष्ट होनेसे बल नष्ट होता है और बलके नष्ट होनेसे तेज नष्ट हो जाता है। यश सबका मूल है, इसीसे उसको सबसे प्रथम कहा। (घ) धनुष जबतक बना है तबतक यश बना है, उसके टूटनेपर

सब नष्ट हो जायेंगे, यथा—'*बल प्रतापु बीरता बड़ाई। नाक पिनाकहि संग सिधाई॥*' अतः कहा कि अभी चले जाना अच्छा है।

वि० त्रि०—बच्चोंसे पराभव हुआ इससे यशादि सब गये। सद्गुणकी निर्मल ख्याति यश है—'**साद्गुण्यैर्निर्मलैः ख्यातः कीर्तिमानिति कथ्यते।**' शत्रुका पौरुषोद्भूततापक है—'**प्रतापी पौरुषोद्भूतशत्रुतापि प्रसिद्धिभाक्।**' महत् प्राणसे पूर्ण होना ही बल है—'**प्राणेन महता पूर्णो बलीयान् इति कथ्यते।**' अवज्ञाका सहन न करना ही तेज है—'**तेजो बुधैरवज्ञादेरसहिष्णुत्वमुच्यते।**'

नोट—बाबा हरीदासजी '*गवाई*' के 'दो अर्थ '*गँवाई*' और '*गवाई*' करके भाव लिखते हैं कि घर चले जानेसे तुम्हारा 'यशादि गाया जायेगा, ऐसा करके यश गवाते चलो' सब यही कहें कि बड़े धर्मज्ञ और विचारवान् थे कि रामजीको पहचान गये कि ये परमेश्वर हैं और इसीसे धनुषको न छुआ। नहीं तो यशादि सब 'गँवा दोगे।'

बिहसे अपर भूप सुनि बानी। जे अबिबेक अंध अभिमानी॥ ५॥
तोरेहु धनुषु ब्याहु अवगाहा। बिनु तोरे को कुअँरि बिआहा॥ ६॥
एक बार कालउ किन होऊ। सियहित समर जितब हम सोऊ॥ ७॥
येह सुनि अवर* महिप मुसुकाने। धरम सील हरि भगत सयाने॥ ८॥

शब्दार्थ—**अवगाहा** (अवगाध)=अनहोनी, असम्भव, कठिन। **अवर**=और, अपर, दूसरे।

अर्थ—दूसरे राजा जो मोह-अज्ञानसे अन्धे हो रहे थे, अभिमानी थे, वे इनके वचनोंको सुनकर बहुत हँसे (और बोले) धनुष तोड़नेपर भी विवाह अगम्य है, कठिन है, फिर भला बिना धनुष तोड़े राजकुमारीको कौन ब्याह सकता है?॥ ६॥ काल ही क्यों न हो एक बार तो श्रीसीताजीके लिये उसे भी हम संग्राममें जीत लेंगे॥ ७॥ यह सुनकर और राजा जो धर्मात्मा, भगवद्भक्त और सयाने थे वे मुसकुराये॥ ८॥

टिप्पणी—१ (क) '*बिहँसे*' अर्थात् ठट्ठा मारकर हँसे, इस तरह उनकी बातका निरादर किया। (ख) '*अपर भूप*' कहकर जनाया कि प्रथम जो बोले कि विचार करो, वे मनुष्य राजा थे (अथवा, ये वह थे जिन्हें रामजी वीररसकी मूर्ति देख पड़े। वही क्रम यहाँ भी है) और '*जे अबिबेक अंध अभिमानी*' ये राजा राक्षस हैं (अथवा कुटिल और असुर हैं, जिन्हें प्रभु भयानक और काल देख पड़े)। और आगेके '*येह सुनि अवर महिप मुसुकाने।*......' ये राजा देवता हैं (अथवा '*हरिभगतन्ह देखे दोउ भाई*' वालोंमेंसे हैं)—मनुष्य, असुर और देवता तीनोंका यज्ञमें आना स्पष्ट कहा गया है, यथा—'*देव दनुज धरि मनुज सरीरा। बिपुल बीर आए रनधीरा॥*' (ग) '*जे अबिबेक अंध अभिमानी*' इति। अर्थात् विवेकरूपी नेत्रसे रहित हैं। विवेकको नेत्र कहा है, यथा—'*तेहि करि बिमल बिबेक बिलोचन*', '*निरखि बिबेक बिलोचनन्हि*......' इत्यादि राजाओंने विचार करनेको कहा, उसपर इन्होंने विचार न किया, उलटे उनकी बातका निरादर किया, अतः इनको अविवेकी कहा। अविवेकी होनेसे अन्धा कहा, यथा—'*मुकुर मलिन अरु नयन बिहीना। रामरूप देखहिं किमि दीना॥*' पुनः, श्रीरामजीका तेज भी देखकर इनको ज्ञान न हुआ अतः अन्धा कहा। और, अन्धे हैं इसीसे अपने पराक्रमके अभिमानी हैं। पुनः, 'अविवेकसे भीतरके ज्ञान-विराग नेत्रोंसे रहित जनाया और '*अंध*' से बाहरके नेत्रोंसे रहित कहा, क्योंकि बाहर इनका तेज देखकर भी नहीं सूझता। (वा, '*अस बिचारि*......' के सम्बन्धसे अविवेकी, '*जनु राकेस उदय भए तारे*' के सम्बन्धसे अन्धे और '*तोरेहु धनु*......' के सम्बन्धसे अभिमानी कहा।)

टिप्पणी—२ (क) '*ब्याहु अवगाहा*' अर्थात् अथाह है। बड़े गहरेमें है। तात्पर्य कि इसके बीचमें हमारा संग्रामरूपी सागर भरा हुआ है। '*एक बार कालहु किन होई।*......' यही 'समर-सागर' है, यथा—'*ए सब सखा*

* अपर भूप—१७०४, को० रा०। अपर महिप—छ०। अवर महिप—१६६१, १७२१, १७६२।

सुनहु मुनि मेरे। भए समर सागर कहँ बेरे॥' 'अवगाह' शब्द 'अथाह' के अर्थमें ग्रन्थमें बराबर प्रयुक्त हुआ है। यथा—*'खल अघ अगुन साधु गुन-गाहा। उभय अपार उदधि अवगाहा॥'* और जब संग्राम छिड़ जायगा, हुल्लड़ मच जायगा तब कौन जानता है कि 'जानकी' किसके हाथ लगेगी?। (ख) ☞यह अर्धाली *'बिनु भंजेहु भव धनुष बिसाला। मेलिहि सीय राम उर माला॥'* का उत्तर है। ☞*'जे अबिबेक अंध अभिमानी'* के *'अबिबेक'* को यहाँ चरितार्थ किया, आगे *'एक बार'*········' में अभिमानीको चरितार्थ करते हैं। (ग)—पहले यह कह आये कि *'असि प्रतीति सब के मन माहीं। राम चाप तोरब सक नाहीं॥'* जानते हैं कि हमसे तो धनुष टूटेगा नहीं और राम अवश्य तोड़ेंगे) इसीसे यह नहीं कहते कि रामसे धनुष नहीं टूटेगा और न यही कहते हैं कि हम तोड़ेंगे। इतना ही कहते हैं कि 'धनुष तोड़नेपर भी ब्याह अगम्य' है। (घ) *'बिनु तोरे को*······' इति। भाव कि जनक प्रतिज्ञा तोड़कर किसीके साथ ब्याह कर देनेका साहस हमलोगोंके रहते कर नहीं सकते।

टिप्पणी—३ *'एक बार कालउ किन होऊ।*·······' इति। (क) यहाँ अभिमानको चरितार्थ किया। अभिमानी राजा धनुष तोड़कर ब्याह करनेको नहीं कहते, संग्राममें जीतकर ब्याह करनेको कहते हैं, क्योंकि धनुष तोड़ सकेंगे यह विश्वास अपनेमें नहीं है, पर यह अभिमान है कि चाहे कोई भी तोड़े और चाहे जयमाल पड़े पर संग्राममें जीतकर हम ही सीताजीको ब्याहेंगे, यथा—*'तोरे धनुष चाँड़ नहिं सरई। जीवत हमहिं कुँअरि को बरई॥'* ☞ये असुर राजा हैं जिन्हें प्रभु कालरूप देख पड़े थे, इसीसे वे कहते हैं कि काल भी होगा तो हम उसे भी जीत लेंगे और रामको जीतना क्या है?। [(ख) गौड़जी कहते हैं कि यहाँ *'कालहु'* से लक्ष्यार्थ है कालके समान बलवान्। कालसे अधिक बलवान् कोई भी नहीं है सो हम उसके समान बलवान्का भी रणमें मुकाबला करेंगे।] *'एक बार'* में भाव यह है कि काल दुरतिक्रम्य है। वह कभी-न-कभी सबको अवश्य जीत लेता है, पर हम उसे एक बार तो अवश्य ही सीताकी प्राप्तिके लिये जीत लेंगे, आगे फिर चाहे वह हमें जीत क्यों न ले।

टिप्पणी—४ *'येह सुनि अवर महिप मुसुकाने।*·······' इति। (क) धर्मशीलसे कर्मकाण्डी, हरिभक्तसे उपासक और सयानेसे ज्ञानी जनाया। (ख) तीन बार बोलना कहकर तीन प्रकारके राजाओंका वहाँ होना जनाया। जो प्रथम बोले वे रजोगुणी हैं—*'अस बिचारि गवनहु घर भाई। जसु प्रताप बल तेज गँवाई॥'* यह रजोगुणी वाक्य है। दूसरे तमोगुणी हैं—*'बिहँसे अपर भूप*·····*अभिमानी'* ये तमोगुणी हैं, ये अधर्म वाक्य बोले। और, तीसरे धर्मशील इत्यादि सतोगुणी हैं, ये धर्मोपदेश करेंगे। इनके उपदेशमें धर्म, उपासना और ज्ञान तीनों हैं। अथवा, मध्यम, अधम और उत्तम तीन प्रकार हैं। (ग) मध्यम कोटिवालोंने यथार्थ बात कही इसीसे तब धर्मात्मा राजा कुछ न बोले, पर अब अधर्मी राजा प्रलाप अलापने लगे तब धर्मात्मा राजाओंने उनको उत्तर दिया। (घ) *'मुसुकाने'* उनकी मूर्खतापर। ये 'अविवेक अंध अभिमानियोंकी तरह बिहँसे' नहीं, मुसकरा भर दिये। [यहाँ घृणा और तिरस्कारसूचक गुणीभूत व्यंग्य है (वीर)। चौ० ५ के *'अबिबेक अंध'* की जोड़में यहाँ *'धर्मसील'* और *'अभिमानी'* की जोड़में *'सयाने'* विपरीत विशेषण इनको दिये गये।]

श्रीराजारामशरणजी—नाटकीय कलामें चरित्रसंघर्षके साथ हास्य-संघर्ष भी विचारणीय है। कवि हमारे साथ है, नहीं तो भूल हो जाती। *'बिहँसि'* और *'मुसुकाने'* शब्द मार्मिक हैं। एकमें अहंकार और दूसरेमें गम्भीरता है। लेकिन यदि कविकी आलोचनाको हटा दीजिये तो हँसनेकी बात दोनों ओर है; कारण कि *'बिनु भंजेहु*·····*माला'* वाली बात भी ठीक नहीं। इस *'बिहँसि'* से इस त्रुटिका सुधार हो गया और ठीक बात प्रत्युत्तरमें आगे दोहेमें कही गयी। एक फल तो चरित्र और हास्य-संघर्षका ऊपर आ गया; दूसरा फल यह हुआ कि हास्यरस 'कटाक्ष' रूपमें परिणत हो गया—*'ब्यर्थ मरहु जनि गाल बजाई॥'* और तीसरा फल 'भक्तिरसकी जागृति' हुआ और इसीसे आगे वार्ताने उपदेशरूप धारण किया।

सो०—सीय बिआहबि राम गरबु दूरि करि नृपन्ह के।
जीति को सक संग्राम दसरथके रन बाँकुरे॥ २४५॥

शब्दार्थ—**बाँकुरे**=प्रबल, बाँके, कुशल, विकट वा चतुर, यथा—*'प्रभु प्रताप उर सहज असंका। रन बाँकुरा बालिसुत बंका॥'* *'जौ जगबिदित पतितपावन अति बाँकुरे बिरुद न बहते।'* (विनय)

अर्थ—राजाओंके गर्वको दूर करके श्रीरामचन्द्रजी श्रीसीताजीको ब्याहेंगे। महाराज दशरथके रणमें बाँके पुत्रोंको संग्राममें कौन जीत सकता है?॥ २४५॥

टिप्पणी—१ (क) अभिमानी राजाओंके *'तोरेहु धनुषु ब्याहु अवगाहा। बिनु तोरे को कुँअरि बिआहा॥'* अर्थात् हम ही *'कुँअरि'* को ब्याहेंगे (चाहे धनुष कोई भी तोड़े और चाहे धनुष किसीसे न भी टूटे, दोनों हालतोंमें) इसका उत्तर देते हैं कि *'सीय बिआहबि राम'* सीताजीको तो राम ही ब्याहेंगे। और, *'एक बार कालउ किन होऊ। सियहित समर जितब हम सोऊ॥'* का उत्तर है कि *'जीति को सक संग्राम दसरथ के रन बाँकुरे'* एवं *'गरबु दूरि करि नृपन्ह के।'* गर्व दूर करके ब्याहेंगे अर्थात् धनुष तोड़कर और सब राजाओंको जीतकर दोनों प्रकारसे गर्व चूर कर डालेंगे। (ख) *'दसरथ के'* कहनेका भाव कि दशरथ महाराजहीको तुम नहीं जीत सके तभी तो वे चक्रवर्ती महाराज हैं, वे तो देवराज इन्द्रतकके सहायक हैं, इन्द्र उन्हींके बाँहबलसे बसे हुए हैं, यथा—*'सुरपति बसइ बाँहबल जाके। नरपति सकल रहहिं रुख ताकें॥'* (२। २५) *'रन बाँकुरे'* कहनेका भाव कि इन्हें केवल पिताहीका बल नहीं है, ये तो स्वयं ही रणमें बड़े धीर और वीर हैं, इन्होंने ताड़का, सुबाहु आदिको सेनासहित मार डाला और तुम तो मनुष्य हो, उन राक्षसोंसे अधिक प्रबल नहीं हो, तब तुम क्या खाकर इनको जीतोगे? *'जीति को सक……'* में वक्रोक्ति है। [छल-छोनिपोंसे कहते हैं *'जीति को सक……।'* भाव कि उनसे तुम्हारी माया नहीं चल सकेगी। वे रणबाँकुरे हैं। रणबाँकुरे मायाका मर्दन करते हैं। यथा—*'हनुमंत अंगद नील नल अतिबल लरत रनबाँकुरे। मर्दहिं दसानन कोटि कोटिन्ह कपट भूभट अंकुरे॥'* और ये तो दशरथके रणबाँकुरे हैं। (वि० त्रि०)]

☞मिलान कीजिये—*'सुचि सुजान नृप कहहिं हमहिं अस सूझइ। तेज प्रताप रूप जहँ तहँ बल बूझइ॥ चितइ न सकहु राम तन गाल बजावहु। बिधि बस बलउ लजान सुमति न लजावहु॥'* (जा० मं० ३७)

ब्यर्थ* मरहु जनि गाल बजाई। मन मोदकन्हि कि भूख बुताई†॥ १॥
सिखि हमारि सुनि परम पुनीता। जगदंबा जानहु जिय सीता॥ २॥

शब्दार्थ—**गाल बजाना**=डींग मारना। **मोदक**=लड्डू। **बुताना**=बुझाना।

अर्थ—गाल बजाकर व्यर्थ मत करो। क्या मनके लड्डुओंसे (भी कहीं) भूख बुझ सकती है?॥ १॥ हमारी परम पवित्र शिक्षा सुनकर श्रीसीताजीको अपने जी-(हृदय-) से जगज्जननी जगत्-माता समझो॥ २॥

टिप्पणी—१ (क) बहुत लोग दिन-रात गाल बजाया करते हैं पर वे मरते तो नहीं, तब यहाँ *'मरहु'* कैसे कहा? ठीक है, गाल बजानेसे कोई मरता नहीं पर जिस तरहका गाल ये बजा रहे हैं ऐसे गाल बजानेसे मृत्यु आ ही जाती है। *'तोरेहु धनुषु ब्याहु अवगाहा'* इत्यादि बातें जो अभिमानी राजाओंने कहीं, उसीपर धर्मात्मा राजा कहते हैं कि ऐसी बातें बताकर व्यर्थ ही मरते हो। तात्पर्य कि तुम्हें सीताजी तो मिलेंगी ही नहीं (और व्यर्थ कल्लेदराजी, गपोलबाजी करोगे तो पहले ही रण छिड़ जायगा और) व्यर्थ ही तुम्हारे प्राण जायँगे तुम मारे जाओगे (बातोंके शूर इसी तरह व्यर्थ प्राण गँवाते हैं)। [*'गाल बजाना'* मुहावरा है, जिसका अर्थ है—डींग मारना, बढ़-बढ़कर बातें करना, व्यर्थ बकवाद करना, मिथ्या प्रलाप करना। यथा—*'पुनि सकोप बोलेउ जुवराजा। गाल बजावत तोहि न लाजा॥'* *'बलवान है स्वान गली अपनी तोहि न गाल बजावत सोहै'* —बहुत डींग मारने इत्यादिका परिणाम यह मिलेगा कि मारे जाओगे। *'मरहु'* से जनाया कि अपनी मौत अपने हाथों बुलाते हो। 'जानकीमंगल' में भी सज्जन राजाओंने कहा है—*'चितइ न सकहु राम तन गाल बजावहु।'* अर्थात् तुम लोग श्रीरामकी ओर ताकनेको भी समर्थ नहीं हो, उनका ऐसा ही तेज, प्रताप, रूप और बल है, व्यर्थ ही बकवाद कर रहे हो।] (ख) *'मन मोदकन्हि कि भूख*

* वृथा—१७०४। † बताई—१६६१, १७२१, १७६२, छ०। बुताई—१७०४, को० रा०। रा० प्र० में भी 'बताई' पाठ है।

बुताई' इति। राजकिशोरीकी प्राप्तिकी इच्छा करना मनके लड्डू खाना है। [*'कालहु सियहित समर जितब'* यह कहना मनका लड्डू खाना है। भला तुम्हारा सामर्थ्य कालको रणमें जीतनेका है? समझो, क्या कह रहे हो? (वि० त्रि०) *'मनके लड्डू खाना'* मुहावरा है। अर्थात् व्यर्थ किसी बड़े लाभकी कल्पना करना, जिसका होना कठिन या असम्भव है। भाव यह कि लड्डू तो नसीब नहीं, मनमें सोचते हैं कि हम लड्डू खा रहे हैं पर] इससे भूखकी शान्ति कदापि नहीं हो सकती, भूख तो साक्षात् सचमुच खानेसे ही जायगी। यह मनमोदक है तो साक्षात् मोदक क्या है और उसकी प्राप्ति कैसे हो? तो उसके उत्तरमें कहते हैं कि हम तुमको साक्षात् मोदककी प्राप्ति बताते हैं, वह यह है कि *'सिखि हमारि सुनि……'* इत्यादि। अर्थात् इस भावसे तुम सबोंको श्रीसीतारामजी प्राप्त हो सकते हैं। (ग) अधम राजाओंके मन, वचन और कर्म तीनोंको व्यर्थ दिखाते हैं। *'जीति को सक संग्राम दसरथ के रनबाँकुरे'* अर्थात् संग्राममें रामजीसे न जीत सकोगे इससे कर्म, *'ब्यर्थ मरहु जनि गाल बजाई'* अर्थात् कोरी डींगें हाँकनेसे काम न चलेगा—इससे वचन और *'मन मोदकन्हि कि भूख बुताई'* अर्थात् दोनों भाइयोंको जीतकर सीताजीकी प्राप्तिकी अभिलाषा करना इससे मनकी व्यर्थता दिखायी।

नोट—१ प्रथम यह कहकर कि *'जीति को सक संग्राम'* फिर *'ब्यर्थ मरहु'* कहनेका भाव कि संग्राममें तो वे जीते नहीं जा सकते, हाँ तुम्हारी वृथा ही मृत्यु होगी। व्यर्थ इसलिये कि जिसके लिये लड़े-मरे सो प्राप्त न हुई। *'ब्यर्थ मरहु'*— व्यर्थ क्यों मारे जायँगे, उसका उत्तर है *'गाल बजाई'* अर्थात् कटु वचन कह रहे हो इसीसे मारे जाओगे। यदि कहो कि हम श्रीसीताजीकी प्राप्तिके लिये ऐसा कहते हैं तो उसपर कहते हैं कि *'मन मोदकन्हि कि भूख बुताई'* अर्थात् गपोड़ेबाजीसे कुछ काम नहीं निकलनेका। २—भूख क्या है? संग्राममें विजय और श्रीजानकीजीकी प्राप्ति। इसीकी भूख है, यथा—*'सिय हित समर जितब हम सोऊ।'* दोनोंका न प्राप्त होना भूखका न बुझना है। दोनोंकी मनमें इच्छा मनके लड्डू खाना है। यहाँ लोकोक्ति और वक्रोक्ति है।

टिप्पणी—२ *'सिखि हमारि सुनि परम पुनीता।……'* इति। (क) *'सिखि हमारि सुनि'* कहनेका भाव कि प्रथम जो राजाओंने तुमको उपदेश दिया कि *'राम चाप तोरब सक नाहीं'* इत्यादि, वह तुमने न सुना तो न सही, पर हम तुम्हारे हितकी कहते हैं सो तो सुनो। यह सीख परम पुनीत है। (ख) *'परम पुनीत'* कहा जिसमें वे आदरसे सुनें। पुनः, *'परम पुनीत'* का भाव कि मध्यम राजाओंके वचन *'पुनीत'* हैं, क्योंकि वे नीतिके अनुकूल हैं, उनमें यश-प्रताप-बल-तेजकी रक्षाका उपाय बताया गया है। उन्होंने लोकमर्यादा रखते हुए चले जानेको कहा था। उनके वचनोंमें लोकमें भलाई दिखायी है, लोकमें मारे न जाओगे और न नाम धरा जायगा और परलोक भी बनेगा। (ग) *'जगदंबा जानहु जिय सीता'*— भाव कि उनके विषयमें जो तुम्हारे हृदयमें कुबुद्धि है उसे छोड़ दो, पत्नीरूपमें प्राप्तिकी अभिलाषा छोड़कर उन्हें जगन्मातारूपमें प्राप्त करो।

जगतपिता रघुपतिहि बिचारी। भरि लोचन छबि लेहु निहारी॥ ३॥
सुंदर सुखद सकल गुन रासी। ए दोउ बंधु संभु उर बासी॥ ४॥

अर्थ—श्रीरघुनाथजीको जगत्‌के पिता (परब्रह्म परमात्मा) विचारकर नेत्र भरकर उनकी छबिको देख लो॥ ३॥ सुन्दर, समस्त सुखोंके देनेवाले, सम्पूर्ण गुणोंकी राशि ये दोनों भाई शङ्करजीके हृदय-(रूपी पुर वा घर-) के निवासी हैं॥ ४॥

टिप्पणी—१ *'जगतपिता रघुपतिहि बिचारी।……'* इति। (क) अधम राजाओंने दो बातें कहीं। एक तो रामजीको जीतनेकी, दूसरी श्रीसीताजीको ब्याहनेकी। इसीसे हरिभक्त राजा उनको इन दोनों मूर्तियोंका ज्ञान कराते हैं कि ये दोनों जगत्‌के माता-पिता हैं। पहले श्रीजानकीजीको जगदम्बा जाननेको कहा, पीछे श्रीरामजीको जगत्पिता विचारनेको कहा। तात्पर्य कि प्रथम उनके हृदयका दुष्टभाव दूर करते हैं, क्योंकि

हृदयकी शुद्धिके बिना रामजीका स्वरूप विचारनेमें नहीं आ सकता। (ख) ☞श्रीजानकीजीके विषयमें कहा कि उनको *'जगदंबा जिय जानहु'* और श्रीरामजीके बारेमें कहते हैं कि *'जगतपिता बिचारी'''''छबि लेहु निहारी,'* अर्थात् श्रीजानकीजीको माता जानने-माननेको कहा तो भी छबि देखनेको नहीं कहा और श्रीरामजीकी छबि देखनेको कहा। इससे जनाया कि माता जाननेपर भी स्त्रीकी छबि न देखें जबतक कि हृदय निर्मल न हो। जिनके हृदय शुद्ध हैं, उनको देखनेमें दोष नहीं है, यथा—*'रामरूप अरु सिय छबि देखें। नर नारिन्ह परिहरीं निमेषें॥'* इत्यादि। [श्रीसीताजीके विषयमें 'निहारी' न कहकर जनाया कि तुम उनकी ओर निहारनेके भी अधिकारी नहीं हो। *'लेहु निहारी'* का भाव कि इनका दर्शन दुर्लभ है, फिर यह मौका हाथ न लगेगा। मुं० रोशनलालजी *'जानहु'* और *'बिचारी'* का भाव यह लिखते हैं कि ये लड़की-लड़का देख पड़ते हैं पर विचारो तो ये जगत्के माता-पिता हैं। (प०)] (ग) ☞सतोगुणी राजा रजोगुणी और तमोगुणी दोनोंको यह उपदेश देते हैं। पहले राजाओंने जो कहा था कि *'अस बिचारि गवनहु गृह भाई'* उसपर ये कहते हैं कि घर क्यों भाग जानेको कहते हो? यहाँसे जाते क्यों हो? न जाने किस संयोगसे आज ये मिल गये हैं, इनके दर्शन जगज्जनक और जगज्जननीभावसे कर लो जबतक ये यहाँ हैं; घर जाकर क्या करोगे? इस तरह यह उपदेश मध्यम और अधम दोनोंके लिये है।

नोट—१ बिना श्रीजानकीजीकी कृपाके श्रीरघुनाथजीकी प्राप्ति असम्भव है। अतः प्रथम उनमें जगन्माता बुद्धि लानेको कहा, तब उनकी कृपासे श्रीरामजीका स्वरूप विचारमें आयेगा। दुर्बुद्धि गयी नहीं कि स्वरूप झलक पड़ा।

टिप्पणी—२ *'सुंदर सुखद सकल गुनरासी।'''''* इति। (क) ☞हरिभक्त राजाओंको जो सुख मिला वही वे उपदेश कर रहे हैं। इन्हें श्रीरामजी सुन्दर और गुणोंकी राशि देख पड़े और उनसे सुख मिला, यथा—*'देखि लोग सब भये सुखारे। एकटक लोचन चलत न तारे॥' 'हरिभगतन्ह देखे दोउ भ्राता। इष्टदेव इव सब सुखदाता॥,' 'गुनसागर नागर बर बीरा। सुंदर स्यामल गौर सरीरा॥'* हरिभक्त भगवान्के गुणोंपर लट्टू रहते ही हैं, यथा—*'समुझि समुझि गुनग्राम रामके उर अनुराग बढ़ाउ। तुलसिदास अनयास रामपद पाइहै प्रेम पसाउ॥'* इसीसे उनको गुणराशि कहा। संतभक्त भगवान्के माहात्म्यको जानते हैं, इसीसे *'संभु उर बासी'* कहा। (ख) *'संभु उर बासी',* यथा—*'अनुज जानकी सहित निरंतर। बसहु राम नृप मम उर अंतर॥'* (६। ११। ४) ये शिवजीके हृदयमें बसते हैं, इस कथनका तात्पर्य यह है कि जिनका शिवजी ध्यान करते हैं, जिनके दर्शनके लिये शिवजी भी तरसते रहते हैं, वे आज साक्षात् तुम्हारे सामने हैं, उनके दर्शन तुमको सुलभ हो गये हैं। पुनः भाव कि जिनको वे हृदयमें छिपाये रहते हैं, जो शिवजीके परम प्यारे हैं, वे तुम्हें प्रत्यक्ष दर्शन देने आये हैं; अतः नेत्रभर अघाकर देख लो। (ग) ☞*'सुंदर सुखद'''''बासी'* इस उपदेशका विस्तार विनयमें है—*'है नीको मेरो देवता कोसलपति राम। सुभग सरोज सुलोचन सुठि सुंदर स्याम॥ सिय समेत सोहै सदा छबि अमित अनंग। भुज बिसाल सर धनु धरें कटि चारु निषंग॥ बलि पूजा माँगै नहीं चाहै एक प्रीति। सुमिरन ही मानै भलो पावन सब रीति॥ देइ सकल सुख दुखद है आरत जन बंधु। गुन गहि अघ औगुन हरै ऐसो करुनासिंधु॥ देस काल पूरन सदा बद बेद पुरान। सबको प्रभु सब मों बसै सब की गति जान॥ को करि कोटिक कामना पूजै बहु देव। तुलसिदास तेहि सेइऐ संकर जेहि सेव॥'* (१०७)

इस भजनमें सुन्दर, सुखद, सकल गुणराशि और संभु-उरबास चारों बातें क्रमसे कही हैं। *'सुन्दर'* आदिके और भाव नोट ३ में देखिये।

नोट—२ श्रीनंगे परमहंसजी इसका अन्वय यह करते हैं—*'दोउ बंधु सुंदर सुखद सकल गुनरासी* (हैं परन्तु) (ये रामजी तो) शंभु-उरबासी (हैं)।' उनका मत है कि 'यहाँ' 'ए' शब्द जो अंगुल्यानिर्देश है वह रामजीको लखनलालसे विलग कर दिखानेका है, अतः यह रामजीहीके लिये अन्वय होगा। यहाँ दो ही हैं और दोमेंसे एकको विलगकर शंभु-उरबासी कहना है जो ठौर-ठौर रामजीहीके लिये ग्रन्थमें प्रमाण है। यथा—*'संकरमानसराजमराला' 'जय महेस मनमानस हंसा'* इत्यादि।' अधिक स्थानोंमें अवश्य

केवल 'श्रीरामजी' का ही नाम मिलता है। श्रीसीताराम-लक्ष्मण तीनोंमें श्रीरामजी ही प्रधान हैं, इससे प्राय: उनका ही नाम दिया गया। उपासना बड़ी गोप्य वस्तु है। यह प्राय: गुप्त ही रखी जाती है। इसीसे इसे केवल एक बार वर माँगते समय वरद्वारा कविने दरसा दिया है। *'अनुज जानकी सहित निरंतर। बसहु राम नृप मम उर अंतर॥'* साधु राजा यहाँ केवल दोनों भाइयोंका हृदयमें बसना कहते हैं। इससे यह न समझना चाहिये कि केवल इन्हीं दोनोंके उपासक शिवजी हैं। यहाँ इन्हीं दोनोंका प्रसंग है; इसलिये इनका ही नाम कहा गया। उपासक तो वे तीनोंके हैं। तभी तो सीतारूप धारण करनेसे शिवजीने सतीका त्याग किया। यथा—*'जौं अब करौं सती सन प्रीती। मिटे भगति पथु होइ अनीती॥'* विवाहके समय भी शिवजीके वचनोंमें कुछ इस उपासनाकी झलक है—*'जिन्हकर नाम लेत जग माहीं। सकल अमंगल मूल नसाहीं॥ करतल होहिं पदारथ चारी। तेइ सिय रामु कहेउ कामारी॥'* (३५१। १-२) मनुजी भी जब प्रार्थना करते हैं कि *'जो सरूप बस सिव मन माहीं।......देखहिं हम सो रूप भरि लोचन। कृपा करहु प्रनतारति मोचन॥'* (१४६। ४—६) तब उनके सामने युगल सरकार प्रकट होते हैं। इससे भी कवि दरसा देते हैं कि ये दोनों रूप शिवजीके उरमें बसते हैं। पर यहाँ केवल दोनों भाइयोंका प्रसंग है, इसलिये प्रस्तुत प्रसंगमें *'ए दोउ बंधु संभु उर बासी'* कहा गया। जहाँ जितना प्रसंग होता है उतना ही लिखा जाता है। अपनी समझके अनुसार मैंने अपने दिये हुए अर्थका समाधान कर दिया है, रहे और लोग जो अर्थ चाहें ग्रहण करें।

नोट—३ बाबा हरीदासजी—'सुन्दर' हैं अर्थात् बाहरके नेत्रोंसे दर्शन और भीतरके नेत्रोंसे ध्यान धरने-योग्य हैं। *'सुखद'* अर्थात् चूक पड़नेपर रुष्ट नहीं होते। *'सकल गुनरासी'* हैं, अत: उनके भजनसे गुण प्राप्त हो जाते हैं। *'संभु उर बासी'* हैं अर्थात् तुम शैव हो और ये तुम्हारे इष्टदेवके भी इष्ट हैं। जो तुम चाहो कि उनके भजनबलसे तुम धनुष तोड़ लो तो यह बात होनेकी नहीं, वरंच जो ये चाहेंगे वही शिवजी करेंगे, क्योंकि ये ही उनके उरके प्रेरक हैं।

नोट—४ यहाँ अर्थान्तरन्यास अलंकार है, क्योंकि *'सुंदर......'* कहकर फिर उसे विशेष सिद्धान्त *'ए दोउ......'* से समर्थन करते हैं।

☞ जा० मं० के *'कस न पियहु भरि लोचन रूप सुधारसु। करहु कृतारथ जनम होहु कत नर पसु॥'* (३८) ......*'मनसिज मनोहर मधुर मूरति कस न सादर जोवहु। बिनु काज राज समाज महुँ तजि लाज आपु बिगोवहु।'*......(४०) इससे मानसके वचनोंसे मिलान कीजिये।

कवितावलीमें भी साधुराजाओंके वचन चौ० २, ३ से मिलते हुए ये हैं—*'भले भूप कहत भले भदेस भूपनि सों लोक लखि बोलिए पुनीत रीति मारखी। जगदंबा जानकी जगतपितु रामभद्र जानि जिय जोवो जो न लगै मुँह कारखी॥'* (१। १५)

सुधा समुद्र समीप बिहाई। मृगजलु निरखि मरहु कत धाई॥ ५॥
करहु जाइ जा कहुँ जोइ भावा। हम तौ आजु जनम फलु पावा॥ ६॥

अर्थ—सुधासमुद्र पासमें छोड़कर तुम मृगतृष्णाजलको देखकर दौड़-दौड़कर क्यों प्राण देते हो?॥ ५॥ जिसको जो भावै वह वही जाकर करे, हमने तो आज जन्म लेनेका फल पा लिया॥ ६॥

टिप्पणी—१ *'सुधा समुद्र समीप बिहाई।......'* इति। (क) पहले मोदक खाना कहा था, यथा—*'मन मोदकन्हि कि भूख बुताई।'* भोजनके साथ जल पीनेको चाहिये, अत: मोदक खाना कहकर अब जल पीना कहते हैं। जैसा भोजन वैसा जल। तात्पर्य कि श्रीरामजीके जीतनेका मनोरथ करना मनमोदक खाना है और श्रीसीताजीकी प्राप्तिका मनोरथ करना मृगजल देखकर दौड़ना है, तृष्णामात्र है। *'भरि लोचन छबि लेहु निहारी'* लिखकर *'सुधा समुद्र समीप बिहाई।..........'* लिखनेका भाव कि छबि सुधा है, यथा *'जौं छबि सुधा पयोनिधि होई।'* (ख) *'सुधा समुद्र'* के साथ *'बिहाई'* और *'मृगजल'* के साथ *'धाई'* शब्द देकर जनाया कि एक निकट प्राप्त है और दूसरा अत्यन्त दूर है। (ग) *'मरहु कत धाई'* भाव कि सुधा

जीवनदाता है, जिलाता है, तुम उसको छोड़कर मरनेका उपाय करते हो, सुधासमुद्र श्रीरामजीकी छबि (के दर्शन) छोड़कर मृगजलरूप जानकीजीकी प्राप्तिके लिये व्यर्थ मरते हो। ☞ पहले कहा था कि *'ब्यर्थ मरहु जनि गाल बजाई। मन मोदकन्हि……'* और अब कहते हैं कि *'मृगजलु निरखि मरहु कत धाई।'* दोनों जगह मरना कहा। भाव कि यदि दोनों भाइयोंको जीतनेकी इच्छा करते हो तो भी मरोगे और यदि श्रीजानकीजीकी प्राप्तिकी इच्छा है तो भी मरण होगा। अतः इन दोनों बातोंका खयाल ही छोड़ दो। ['समीप सुलभ दर्शन अमृत है, आदिशक्तिके साथ विवाह मृगजल है,। (वैजनाथजी) *'सुंदर सुखद……उरबासी'* ये सुधासमुद्र हैं, इनके दर्शनका सुख त्यागकर सीता-प्राप्ति-मृगजलके लिये प्रयत्न करना वृथा है, वह कभी हाथ न लगेगा, उनका स्पर्श भी न होगा।' (पंजाबीजी) वा 'धनुष तोड़कर प्रतिष्ठाकी चाह करना मृगजल है। (रा० प्र०) यहाँ 'ललित' अलंकार है क्योंकि छबिसमुद्र श्रीरामजीका वा छबिसमुद्र दोनों भाइयोंका दर्शन करो, सीताप्राप्तिकी व्यर्थ इच्छा न करो, यह प्रस्तुत वृत्तान्त न कहकर उसका प्रतिबिम्बमात्र कहा है।]

टिप्पणी—२ ☞ यहाँतक साधु-राजाओंका उपदेश है। ये धर्मात्मा हैं। इसीसे इन्होंने परम धर्मका उपदेश किया—*'जगदंबा जानहु जिय सीता॥ जगतपिता रघुपतिहि बिचारी।'* श्रीसीतारामजीमें माता-पिता-बुद्धि करना धर्म है। पुनः, ये हरिभक्त हैं; इसीसे इन्होंने भक्तिका उपदेश दिया—*'भरि लोचन छबि लेहु निहारी।'* अनुराग करना भक्ति है। पुनः ये सयाने अर्थात् ज्ञानी हैं 'इसीसे इन्होंने ज्ञानोपदेश किया—*'सुंदर सुखद सकल गुनरासी। ये दोउ बंधु संभु उर बासी॥ सुधा समुद्र समीप बिहाई। मृगजल निरखि मरहु कत धाई॥'*— यह ज्ञान है। इसमें परमेश्वरके स्वरूपका ज्ञान कराया गया है। इस प्रकार सात्त्विक राजाओंके जो प्रथम तीन विशेषण दिये गये—*'धरमसील हरिभगत सयाने'* वे तीनों उनके उपदेशसे प्रमाणित भी हो गये। (मृगजल—१। ४३। ८ मा० पी० भाग १ देखिये)

टिप्पणी—३ *'करहु जाइ जा कहुँ जोइ भावा।'* इति। (क) इस कथनसे पाया गया कि दुष्ट राजाओंने इनका उपदेश नहीं माना। अभिमानी उपदेश नहीं मानते, यथा—*'मूढ़ तोहि अतिसय अभिमाना। नारि सिखावन करसि न काना॥'* (४। ९) *'बोला बिहसि महा अभिमानी। मिला हमहिं कपि गुरु बड़ ग्यानी॥'* (५। ४) *'श्रवन सुनी सठ ताकर बानी। बिहँसा जगत बिदित अभिमानी॥'* इत्यादि। ये 'अविवेक अन्ध अभिमानी' हैं, अतः ये कैसे सुनते? जब न सुना तब कहा कि *'करहु……'* (ख) *'जा कहुँ जोइ भावा।'* इससे सूचित किया कि किसीको कुछ भाया, किसीको कुछ। राजाओंकी पृथक्-पृथक् भावनाएँ हैं। किसीको यह भाता है कि *'अस बिचारि गवनहु'* और किसीको *'सियहित समर'* भाता है, इत्यादि। (प्र० सं०) इस कथनका आशय यह है कि मध्यम और अधम दोनों प्रकारके राजाओंने अपने-अपने भाव प्रकट किये। एकने तो घर चले जानेकी कही—*'अस बिचारि गवनहु गृह भाई'* और दूसरोंने लड़नेको बात कही—*'एक बार कालउ किन होऊ……।'* इसीपर साधु राजाओंने कहा कि जिसको जो भाता है सो करे, हम व्यर्थमें समय नष्ट क्यों करें। यह भी जनाया कि तुम्हारे भाव हमें नहीं भाते, हमारा हितोपदेश तुमको नहीं भाता तो न भावे, अब हम व्यर्थ बकवाद नहीं करना चाहते। यह कहकर ये चुप हो गये। (ग) *'आजु जनम फलु पावा'* इति। भाव कि श्रीसीतारामजीके एक बारके ही दर्शनसे जन्म सफल हो जाता है, अन्य साधन जन्मभर भी करे तब भी न जाने, मरनेपर भी जन्म सफल हो वा न हो। हमें आज इनका दर्शन मिला, अतएव हमारा जन्म सफल हो गया। जन्म सफल होनेका भाव कि इसीलिये जन्म-जन्म मुनि आदि प्रयत्न करते हैं, भगवत्प्राप्तिहीसे जन्म सफल होता है, अन्यथा नहीं। यथा—*'सब साधन कर सुफल सुहावा। लखन रामसिय दरसनु पावा॥'* (२। २१०) *'जे नर नारि न अवसर आए। तिन्ह सिय रामु न देखन पाए॥……समरथ धाइ बिलोकहिं जाई। प्रमुदित फिरहिं जनम फलु पाई॥'* (२। १२१) *'धन्य बिहग मृग कानन चारी। सफल जनम भए तुम्हहि निहारी॥'* (१। १३६) इत्यादि। यह वचन भी उपदेश है।

अस कहि भले भूप अनुरागे। रूप अनूप बिलोकन लागे॥ ७॥
देखहिं सुर नभ चढ़े बिमाना। बरषहिं सुमन करहिं कल गाना॥ ८॥

अर्थ—ऐसा कहकर अच्छे राजा अनुरागसे उपमारहित रूप देखने लगे (श्रीरामजीका दर्शन करने लगे)॥ ७॥ देवता लोग आकाशसे विमानोंपर चढ़े हुए देख रहे हैं, सुन्दर गान कर रहे हैं और पुष्प बरसा रहे हैं॥ ८॥

टिप्पणी—१ (क) *'अस कहि''''बिलोकन लागे'* अर्थात् कुछ केवल दूसरोंको उपदेश ही नहीं देते किन्तु स्वयं भी उस उपदेशपर अमल करते हैं। *'भरि लोचन छबि लेहु निहारी'* यह उपदेश दिया और स्वयं भी अनुरागसे छबि देखने लगे। (ख) अनुरागीका भाव कि रूप तो सभी देखते हैं पर *'भले भूप'* अनुरागसे देखते हैं (और दुष्ट राजा दुर्भावसे)। (ग) ☞इनके मन, वचन, कर्म तीनों भगवान्‌में लगे दिखाये। वचनसे दर्शनका उपदेश दिया, मनसे अनुराग किया और तनसे देखने लगे। नेत्र भी तन हैं। देखना कर्म है। (घ) *'देखहिं सुर''''''''''* किसको देखते हैं यह स्पष्ट नहीं लिखा कारण कि यहाँ राजाओंका (श्रीरामजीका) अनुपम रूप देखना इसके तुरत ही पहले लिखा ही है और यहाँ रूपदर्शनका प्रकरण ही है उसके अनुकूल राम-रूप देखना ही अभिप्रेत होगा न कि और कुछ। (ङ) *'नभ चढ़े बिमाना'* कहनेका भाव कि राजा (सुर) निज रूपसे नर-समाजमें नहीं आये। राजसमाज मनुष्योंका है अत: उसमें नर-रूपसे बैठे हैं यथा—*'देव दनुज धरि मनुज सरीरा। बिपुल बीर आये रनधीरा॥'* समीपसे दर्शन अच्छा होता है, इसीसे ये नर-रूप धरकर समाजमें आकर बैठे और मङ्गलगान करने एवं फूल बरसानेके लिये देवरूपसे आकाशमें विमानोंपर हैं। इसीसे ग्रन्थकारने प्रथम हरि-भक्तोंका देखना लिखकर तब देवताओंका देखना, गान करना और फूल बरसाना लिखा।

टिप्पणी—२ (क) जब श्रीरामजी रंगभूमिमें आये तब देवताओंने फूल बरसाया। बीचमें रामरूप-वर्णन और राजाओंकी वार्ता लिखी गयी। इसी तरह जब श्रीजानकीजी आयीं तब पुष्पोंकी वृष्टि हुई, यथा—*'रंगभूमि जब सिय पगु धारी। देखि रूप मोहे नर नारी॥ हरषि सुरन्ह दुंदुभी बजाई। बरषि प्रसून अपसरा गाई॥'* अत: यहाँ यह शंका होती है कि 'पुष्पोंकी वृष्टि तो रामजीके रंगभूमिमें आनेपर ही जान पड़ती है तब वहीं उसी समय उसका उल्लेख न किया जाकर यहाँ करनेका क्या प्रयोजन है?' समाधान यह है कि यहाँ उसका उल्लेख करके सूचित करते हैं कि श्रीरामजीके आगमनका प्रसंग बराबर यहाँतक है। आगे श्रीसीताजीके आगमनका प्रसंग है। [पुन: *'बरषहिं'* और *'देखहिं'* की बनावट दिखा रही है कि देर एवं दूरसे देख रहे हैं और अवसरपर फूलोंकी वर्षा कर रहे हैं। लिखा अबतक इस कारण नहीं कि किसीने ध्यान नहीं दिया। क्योंकि पहले तो सब लोग रामावलोकनमें थे, फिर वाद-विवाद छिड़ गया। अब तनिक शान्ति हुई तो पुष्प-वर्षाकी ओर भी ध्यान गया। फिर देवता भी अब अधिक अनुरागे और भले भूपोंसे सहानुभूति करनेके लिये विशेष पुष्प-वर्षा की। (राजारामशरणजी) पुन: देवता तो सदा स्वार्थी हैं। जब साधु राजाओंके वाक्य सुने तब उन्हें विश्वास हुआ कि राम धनुष तोड़ेंगे और अपना कार्य सिद्ध होगा। अत: वे हर्षित हुए और पुष्प-वृष्टि करने लगे। (प० प० प्र०)] (ख) फूलोंकी वर्षा और मङ्गलगान शकुन हैं, यथा—*'बरषहिं सुमन सुमंगलदाता।'* *'भेरिमृदंगमदुमर्दलशंखवीणावेदध्वनिर्मङ्गलगीतघोषा:।'*

नोट—मिलान कीजिये—*'सिख देइ भूपनि साधु भूप अनूप छबि देखन लगे। रघुबंस कैरवचंद चितइ चकोर जिमि लोचन ठगे॥'* (४०)। (जा० मं०)।

दो०—जानि सुअवसरु सीय तब पठई जनक बोलाइ।
चतुर सखीं सुंदर सकल सादर चलीं लवाइ॥ २४६॥

अर्थ—तब सुन्दर शुभ अवसर जानकर जनकमहाराजने सीताजीको बुलवा भेजा। चतुर सखियाँ जो सभी सुन्दर हैं आदरपूर्वक लिवा ले चलीं॥ २४६॥

☞*'सुअवसरु'* विचारणीय है। नाटकी कलामें प्रवेश (Enter) और Exit का बड़ा महत्त्व होता है। जब वाद-विवाद बंद हुआ तभी जनक महाराजने उन्हें बुलाया।

टिप्पणी—१ *'सुअवसरु'* अर्थात् जब सब बैठ गये। पुनः जिस मुहूर्तमें मुनि श्रीरामजीको ले आये वही मुहूर्त अबतक विद्यमान है, इसीमें जानकीजी आवें जिसमें रामजीको प्राप्त हो जायँ, अतः *'सुअवसरु'* कहा। तीसरे, श्रीरामजीके आगमनपर देवता मङ्गलगान और मङ्गलद्योतक पुष्पोंकी वृष्टि कर रहे थे, ये दोनों बड़े सगुन हैं, अतः *'सुअवसरु'* जानकर बुलाया। यथा—*'सुरन्ह सुमंगल अवसरु जाना। बरषहिं सुमन'*····· (३१४। १) [श्रीजनकजी बड़े पण्डित हैं। उन्होंने शुभमुहूर्त जान लिया कि इसमें विजय और जानकीजी दोनों रामजीको प्राप्त होंगी। पुनः सीताजीके आये बिना कोई धनुष तोड़ने न उठेगा और सब तो अब आकर बैठ ही गये है। (पंजाबीजी) *'बरषहिं सुमन करहिं कल गाना।'* दीपदेहलीन्यायसे दोनों ओर लगता है।]

टिप्पणी—२ (क) *'चतुर सखीं'* जिस मुहूर्त और माङ्गलिक समयमें महाराजने बुला भेजा तुरत उसीमें ले आयीं, अवसर न बीतने पाया, अतः *'चतुर'* कहा। इस समय यही चतुराईका काम था। (बैजनाथजीका मत है कि इस समय साथमें ऐसी भी सखियाँ हैं जो राजाओंके नाम, गुण और कुल इत्यादिसे परिचित थीं, अतः उनको *'चतुर'* कहा।) आगे समय-समयपर सखियोंकी चातुरीका वर्णन किया गया है। जैसे कि *'संग सखीं सुंदर चतुर गावहिं मंगलचार'* यहाँ मङ्गलगानका समय है सो गा रही हैं, यह चातुरी है। पुनः *'जाइ समीप रामछबि देखी। रहि जनु कुँअरि चित्र अवरेखी॥ चतुर सखीं लखि कहा बुझाई। पहिरावहु जयमाल सुहाई॥'* *'आसिष दीन्ह सखी हरषानी। निज समाज लै गईं सयानीं॥'* इत्यादि। (ख) *'सुंदर सकल'* इति। यहाँ सखियोंकी सुन्दरता कही, क्योंकि आगे श्रीजानकीजीकी शोभा कहेंगे कि सखियोंके बीचमें श्रीजानकीजी सुशोभित हो रही हैं। सखियोंको छबिगण कहेंगे और श्रीसीताजीको महाछबि। (ग) *'सादर'* अर्थात् उनको आगे करके दाहिने-बायें अगल-बगल और पीछे अपना हैं; यथा—*'सादर तेहि आगे करि बानर। चले जहाँ रघुपति करुनाकर॥'* (५। ४५) [अथवा डोले या पालकीपर चढ़ाकर आगे उन्हें कर लिया और पीछे आप साथ-साथ रहीं। *'राजा की रजाइ पाइ सचिव सहेली धाइ सतानंद ल्याय सिय सिबिका चढ़ाइ कै।'* (गी० पद ८४)]

सिय सोभा नहिं जाइ बखानी। जगदंबिका रूप गुनखानी॥ १॥
उपमा सकल मोहि लघु लागीं। प्राकृत नारि अंग अनुरागीं॥ २॥

अर्थ—रूप और गुणोंकी खानि जगत्-माता श्रीसीताजीकी शोभा वर्णन नहीं की जा सकती॥ १॥ सब उपमाएँ मुझे तुच्छ लगीं (क्योंकि) प्राकृत स्त्रियोंके अङ्गोंमें उन्होंने अनुराग किया है अर्थात् बड़े प्रेमसे उनके अङ्गोंके लिये कवियोंने उन उपमाओंको लगाया है॥ २॥

गौड़जी—आदिशक्तिकी शोभाकी पूजा वाणी करना चाहती है। यह पूजा अर्घ्यादिकी तरह उपमा देकर करती। परंतु देखती है कि *'सब उपमा कबि रहे जुठारी'* और जूठी उपमा और सो भी साधारण सुन्दरियोंकी जूठी, आदिशक्तिके शोभासमुद्रको कैसे दी जाय?

टिप्पणी—१ (क) जब श्रीरामजी रंगभूमिमें आये तब उनकी कुछ शोभा बखान की तो यह भी उचित था कि श्रीजानकीजीके आगमनपर इनकी शोभाका भी कुछ वर्णन किया जाता, इसीपर कहते हैं कि *'सिय सोभा नहिं जाइ बखानी'* और बखान न हो सकनेका कारण आगे इस दोहेभरमें कह रहे हैं, अर्थात् इस एक चरणका ही विस्तार इस दोहेभरमें है। (ख) *'जगदंबिका'*····· इति। अब कारण कहते हैं कि एक तो वे जगन्मात्रकी माता हैं, माताका रूप (शोभा) पुत्र कैसे कह सके? यथा—*'जगत मातु पितु संभु भवानी। तेहिं सिंगारु न कहउँ बखानी॥'* (१०३। ४) दूसरे, वे रूप और गुणोंकी खानि हैं, इससे भी रूप बखाना नहीं जा सकता, यथा—*'सिय सुंदरता बरनि न जाई। लघु मति बहुत मनोहरताई॥'* (३२३। १) तात्पर्य कि प्रथम तो शोभाका वर्णन करना उचित नहीं है और यदि वर्णन भी करें तो शोभा अपार है, बखानी नहीं जाती। यथा—*'कोटिहु बदन नहिं बनै बरनत जगजननि सोभा महा।'* (१००) (ग) *'जगदंबिका'* कहकर *'रूप गुनखानी'* कहनेका भाव कि ईश्वरके रूप और गुणसे जगत्‌का रूप

और गुण है। पुनः भाव कि *'जगदंबिका'* कहनेसे पाया गया कि माताभाव होनेसे कवि वर्णन नहीं करता उसीपर कहते हैं कि रूपगुणखानि हैं, वर्णन हो ही नहीं सकता। (घ) यहाँ माधुर्य और ऐश्वर्य दोनों कहा। *'सियसोभा……'* माधुर्य है और *'जगदंबिका'* ऐश्वर्य है। (ङ) न बखान कर सकनेको युक्तिसे समर्थन करना 'काव्यलिंग अलंकार' है। (वीर)]

टिप्पणी—२ (क) कहा जा सकता है कि शोभाका वर्णन यथार्थ न भी हो तब भी उपमाके द्वारा तो उसे जना सकते थे उसपर कहते हैं—*'उपमा सकल……'* सब प्राकृत स्त्रियोंके अङ्गोंमें लगनेसे जूठी हो गयी, यथा—*'सब उपमा कबि रहे जुठारी। केहि पटतरौं बिदेहकुमारी॥'* (२३०। ८) अर्थात् उपमाद्वारा वर्णन होता है, परंतु कविलोग सब उपमाएँ प्राकृत स्त्रियोंके लिये कह चुके, कोई बाकी नहीं है। *'सकल'* अर्थात् एक भी उपमा नहीं बची, जिसे हम सोचते हैं उसे किसी-न-किसी ग्रन्थमें अवश्य प्राकृत सुन्दरीके सम्बन्धमें दी हुई पाते हैं। अथवा जो-जो अन्य लोगोंने दी हैं वे सब हमने देखी पर हमें *'लघु'* जान पड़ीं। (ख) *'मोहि लघु लागी'* का भाव कि और कवियोंको वे लघु न लगीं, क्योंकि उन्होंने तो प्राकृत स्त्रियोंके लिये दीं, प्राकृत स्त्रियोंके लिये वे सब योग्य ही हैं और मैं अप्राकृत स्त्रीके अङ्गोंके लिये उपमा ढूँढ़ता हूँ, इसीसे वे उपमाएँ मुझे लघु लगीं। प्राकृत उपमा अप्राकृत स्त्रीके अङ्गमें लगाना अयोग्य है। इससे सूचित किया कि सीताजी अप्राकृत हैं, उनका सारा शरीर चिदानन्दमय है, जैसे श्रीरामजीका शरीर। प्राकृत विश्वमें अप्राकृतकी उपमा मिलना असम्भव है, यही कहना होगा कि इनके समान ये ही हैं। (ग) *'अनुरागी'* का भाव कि सब उपमाओंने अपने योग्य अङ्ग पाकर उनमें अनुराग कर लिया है पर श्रीजानकीजीके अङ्गोंके लिये ज्यों ही हम किसी उपमाको उठाते हैं तो वह उनके अङ्गको देखकर संकुचित हो जाती है, यह समझकर कि मैं उनके योग्य नहीं हूँ, यथा—*'खंजन सुक कपोत मृग मीना। मधुप निकर कोकिला प्रबीना॥ कुंद कली दाड़िम दामिनी। कमल सरद ससि अहि भामिनी॥ बरुनपास मनोज धनु हंसा। जग केहरि निज सुनत प्रसंसा॥ श्रीफल कनक कदलि हरषाहीं। नेकु न संक सकुच मन माहीं॥ सुनु जानकी तोहि बिनु आजू। हरषे सकल पाइ जनु राजू॥'* (३। ३०) इत्यादि अर्थात् श्रीजानकीजीके सामने सङ्कोच होता था, उनके पीछे प्रसन्न हैं। (इसी तरह श्रीरामजीके अङ्गोंकी शोभा देख उपमाओंका हार मानकर भागकर छिप जाना गीतावलीमें कहा गया है।' यथा—*'भुजनि भुजग, सरोज नयनन्हि, बदन बिधु जित्यो लरनि। रहे कुहरनि, सलिल, नभ उपमा अपर दुरि डरनि॥'* (१। २४। ४) प्राकृत स्त्रियोंको अपनेसे तुच्छ वा उनके योग्य समझती हैं, इसीसे उनके साथ लगनेसे प्रसन्न हैं। क्योंकि वहाँ उपमाएँ बड़ाई पाती हैं।

सिय बरनिय तेइ उपमा देई। कुकबि कहाइ अजसु को लेई॥ ३॥
जौं पटतरिअ तीय सम सीया। जग असि जुबति कहाँ कमनीया॥ ४॥

अर्थ—(यदि) वही उपमा देकर श्रीसीताजीका वर्णन करें तो कुकवि कहलावें, यह अपयश कौन लेगा॥ ३॥ यदि श्रीसीताजीको स्त्रियोंकी समता देकर तुलना करें तो ऐसी सुन्दर स्त्री जगत्‌में कौन है (जिसकी उपमा उन्हें दे सकें)॥ ४॥

श्रीराजारामशरणजी—हम फुलवारीलीलाके कुछ प्रारम्भसे ही देख रहे हैं कि तुलसीदासजी सब पहिलेवाले कवियोंसे बाजी मारना चाहते हैं। यह बात कवियों और कलाकारोंमें स्वाभाविक होती है। उर्दूमें इसीको 'तअल्ली' कहा जाता है। [उर्दू है जिसका नाम हमीं जानते हैं दाग। हिन्दोस्ताँमें धूम हमारे जुबाँकी है।] उपमाएँ सब पहिले ही प्रमाणित कर आये हैं, परन्तु स्पष्ट कारण अब कहा कि श्रीसीताजी अप्राकृत हैं, जगदम्बिका हैं, और उपमाएँ प्राकृत नारियोंके अङ्गसे कवियोंद्वारा जुठारी जा चुकी हैं। फिर भी नम्रता विचारणीय है कि कहा है कि भाई *'कबि न होउँ नहिं बचन प्रबीनू'* यह तो ठीक है पर 'कुकवि' कहलाकर 'अपयश' भी तो नहीं लेना चाहता कि जो उपमा अयोग्य हो, असङ्गत हो, वह दे दूँ।'

टिप्पणी—१ (क) *'कुकबि कहाइ अजसु को लेई।'* भाव कि कविता यशके लिये बनायी जाती है। *'अजसु को लेई'* का भाव कि जो प्राकृत स्त्रियोंके अङ्गोंमें लग चुकी हैं उन प्राकृत

जगत्‌की उपमाओंको श्रीसीताजीके चिन्मय अङ्गोंके लिये प्रयुक्त करनेसे बड़ा पाप होगा; यथा *'बैदेही मुख पटतर दीन्हे। होइ दोष बड़ अनुचित कीन्हे॥'* (२३८। ३) बिना पापके अपयश नहीं होता; यथा—*'बिनु अघ अजस कि पावै कोई।'* (७। ११२) (ख) *'कुकबि'* कहकर कवियोंकी तीन कोटियाँ जनायीं।—सुकवि, कवि और कुकवि। कौन कवि हैं, कौन सुकवि और कौन कुकवि? जो उपमा देकर प्राकृत स्त्रियोंका वर्णन करते हैं, वे कवि हैं, यथा—*'सब उपमा कबि रहे जुठारी।'*...... जो उपमा देकर श्रीजानकीजीका वर्णन करें वे कुकवि हैं। यथा—*'सिय बरनिय तेइ उपमा देई। कुकबि कहाइ*......*।'* और, जो उपमा देकर श्रीजानकीजीका वर्णन न कर सके वह सुकवि है। तात्पर्य कि आप सुकवि हैं। अपने मुँह मियाँमिट्ठू बनना, अपने मुख अपनी प्रशंसा करना अनुचित है, इसीसे आपने प्रकटरूपसे 'सुकवि' न कहकर अभिप्रायसे अपनेको 'सुकवि' जना दिया। (ग) *'कुकबि कहाइ*......' का भाव यह कि ऐसा करनेवाला न सुकवि ही कहलाने योग्य रह जायगा और न कवि ही, दोनों पदोंसे च्युत हो जायगा और अपयशका भाजन होगा। वह काम क्यों करे कि अपयश हो। [शम्भुके प्रसादसे तुलसी 'कवि' हुआ है, कुकवि बनने क्यों जाय? (वि० त्रि०)]

टिप्पणी—२ (क) ☞प्रथम प्राकृत सुन्दरियोंके अङ्गोंमें जो उपमाएँ अनुराग कर चुकी हैं, उनका त्याग किया, अब प्राकृत सुन्दरियोंकी उपमाका भी त्याग करते हैं। [यदि कोई कहे कि अच्छा चन्द्र इत्यादिकी उपमाएँ तुम नहीं देते तो न सही, पर जिन स्त्रियोंमें वे उपमाएँ दी गयी हैं उनके सदृश तो कह सकते हो तो उसपर कहते हैं कि *'जौं पटतरिअ तीय सम सीया।'*...... (पंजाबीजी)। जगत्‌में कोई स्त्री उनकी उपमाके योग्य नहीं है। इस तरह जनाया कि उपमान और उपमेय दोनों श्रीजानकीजीके उपमायोग्य नहीं हैं। इस जगत्‌में कोई स्त्री उनके उपमायोग्य नहीं है, इसलिये जगत्‌की किसी स्त्रीका नाम न दिया। आगे स्वर्ग और पातालमें कुछ दिव्य स्त्रियाँ हैं जिनका नाम लेते हैं पर उनमें दोष दिखाकर उनका भी त्याग करते हैं। (ख)—*'जग'* इति। तीनों लोकोंकी स्त्रियोंको कहेंगे; इनमेंसे प्रथम इस जगत् अर्थात् मर्त्यलोककी स्त्रियोंको कहते हैं, क्योंकि श्रीजानकीजी इस लोकमें हैं, इससे इस समय जगत् प्रधान है। ['जग' से स्वर्ग, पाताल और मर्त्य तीनों लोकोंको भी ले सकते हैं, जगत्‌में ये सब शामिल हैं। उनमें कहीं भी कोई स्त्री उपमायोग्य नहीं है, यह कहकर दो-चार स्त्रियाँ जो परम सुन्दरी कही जाती हैं उनका उदाहरण देकर उनमें दोष दिखाकर उनको भी खारिज कर देते हैं।]

गिरा मुखर तन अरध भवानी। रति अति दुखित अतनु पति जानी॥ ५॥

अर्थ—सरस्वती वाचाला। (बक्की, बहुत बोलनेवाली) हैं और भवानी (पार्वतीजी) अर्द्धाङ्गिनी हैं। रति (कामदेवकी स्त्री) अपने पतिको *'अतनु'* (बिना शरीरका) जानकर अत्यन्त दु:खी है॥ ५॥

टिप्पणी—१ (क) मर्त्यलोकमें तो कोई स्त्री उपमाके लिये ढूँढ़े मिली नहीं; अत: अब दिव्य लोकोंमें ढूँढ़ते हैं; क्योंकि देवताओंकी स्त्रियाँ बहुत दिव्य और परम सुन्दरी सुनी जाती हैं। प्रथम ब्रह्माजीकी स्त्रीको लेते हैं तो उनमें यह दोष पाते हैं कि वह बहुत बोलती है, दिन-रात बोलती ही रहती है। (भाव कि सरस्वती ही सबकी जिह्वापर बैठकर बोला करती हैं) और बहुत बोलना स्त्रियोंमें दोष माना गया है। अत: उनको खारिज (बहिष्कृत) किया। फिर महादेवजीकी शक्ति श्रीपार्वतीजीको सोचे तो उनमें यह दोष देखते हैं कि भवानीके आधा ही शरीर है। आधा शरीर उनका पुरुष है और आधा स्त्री है। अर्द्धनारीनटेश्वररूप शिवजीका कहा गया है, यथा—*'भस्म अँग मर्दन अनंग संतत असंग हर। सीस गंग गिरिजा अधंग भूषन भुजंगबर॥ मुंडमाल बिधुबाल भाल डमरू-कपाल-कर। बिबुध बृंद नव कुमुद चंद सुखकंद सूलधर॥*......' (क० ७। १४९) *'अर्ध अंग अंगना*......'(क० ७। १५१) इससे जनाया कि उनका आधा अङ्ग अमाङ्गलिक है। उसमें आधा तन भवानी हैं और आधा तन महादेव हैं। अत: शोभा बिगड़ गयी, उपमायोग्य ये भी न रह गयीं। (ख) *'रति अति दुखित अतनु पति जानी'* इति। *'अतनु'* यथा—*'अब तें रति तव नाथ कर होइहि नाम अनंगु। बिनु बपु ब्यापिहि सबहि पुनि सुनु निज मिलन प्रसंगु॥'* (८७) कामदेवके शरीर

नहीं है, रति परम सुन्दरी है, उसमें सरस्वती और भवानीके दोष नहीं हैं, वह न तो वाचाल है और न उसके अङ्गमें त्रुटि है, पर पतिका दुःख होनेसे दुःखी रहा करती है, अतः वह भी त्याज्य है। (ग) ☞प्रथम ब्रह्माकी शक्तिको कहा, फिर महादेवकी शक्तिको कहा, अब चाहिये था कि त्रिदेवमेंके तीसरे देव जो भगवान् विष्णु हैं उनकी शक्तिको भी कहते, किंतु उनको न कहकर बीचमें रतिको कहने लगे। यह भी साभिप्राय है। भवानीके समीप ही रतिको कहनेका भाव यह है कि दोनों 'पतिसे अशोभित हुईं। भवानी तो पतिके संगसे अशोभित हो गयीं और रति पतिके असङ्गसे अशोभित है। युक्तिके विचारसे शिवशक्तिके पीछे कामकी शक्तिको कहा। युक्ति दिखानेके पश्चात् विष्णु-शक्तिको कहते हैं'। [भवानी और रति दोनोंको एक-सा दुःख है। दोनोंकी 'क्रिया' एक है, अर्थात् दोनोंके पति बिना शृङ्गारके हैं। एकके पति सर्प लपेटे, जटाएँ रखे, भस्म रमाये—अतः भवानीकी शोभा नष्ट हुई और पति बिना रतिकी शोभा नष्ट हुई। अतएव दोनोंको एकत्र रखा। इसी प्रकार अयोध्याकाण्डमें पहले ***'बटु'*** फिर ***'गृही'*** फिर ***यती*** तब ***'बैषानस'*** को कहा क्योंकि दोनोंकी 'क्रिया' एक है। गृहस्थ कर्म छोड़े तो शोचनीय और यती संग्रह करे तो शोचनीय; यथा—***'सोचिय बटु निज ब्रत परिहरई॥'''''सोचिय गृही जो मोहबस करै करमपथ त्याग। सोचिय जती प्रपंचरत बिगत बिबेक बिराग॥'*** (२। १७२) ***'बैषानस सोइ सोचै जोगू। तप बिहाइ जेहि भावै भोगू॥'*** तथा यहाँ भवानी और रतिको साथ कहा।] पुनः यहाँ क्रमशः एकसे दूसरेका दुःख अधिक दिखा रहे हैं। उत्तरोत्तर एकसे दूसरेमें अधिक दोष बता रहे हैं। गिरामें केवल मुखका दोष है कि बात बहुत करती है, उसका मुख ही भर बिगड़ा है। उससे अधिक दोष भवानीमें है, उनका आधा तन ही जाता रहा, उनके सभी अङ्ग आधे-आधे दूषित हैं क्योंकि पतिके अङ्गोंसे ढके हुए हैं। इनसे अधिक दोष रतिमें है, क्योंकि उसका तो आधा अङ्ग है ही नहीं (स्त्री पतिकी अर्धांगिनी कहलाती है सो) इसका पति ही मर गया यह विधवा है। और इससे भी अधिक दोष लक्ष्मीमें हैं क्योंकि इनके 'विष' और 'वारुणी' दो भाई हैं अर्थात् इसको सदा कुसङ्ग प्राप्त है। कुसङ्गके बराबर अशोभा किसीमें नहीं। दुःख उत्तरोत्तर अधिक है, यह ***'रति अति दुखित'*** से जनाया। गिरासे अधिक दुःख पार्वतीको है, क्योंकि इनके तो सारे आधे शरीरकी शोभा ही मारी गयी। और रतिका क्या कहना वह तो ***'अति दुखित'*** है। इसमें दो दोष दिखाये—एक तो वैधव्य, दूसरे अति दुःखी होनेसे मन सदा मलिन रहता है जिससे शोभा जाती रहती है। वैधव्यके समान स्त्रीके लिये कोई दूसरा दुःख नहीं है। जैसे भारी और अति प्रिय वस्तुकी हानिसे भारी दुःख होता है, वैसे ही पतिके मरणसे उसे भारी दुःख है जिससे शोभा बिलकुल नष्ट हो गयी।

☞देखिये, जैसे नगरदर्शनमें सखियोंके द्वारा श्रीरामजीको ब्रह्मा, विष्णु, महेश और कामदेव इन चारोंसे अधिक सुन्दर कहा, उनको रामजीकी उपमाके लिये अयोग्य ठहराया, यथा—***'सखि इन्ह काम कोटि छबि जीती॥ बिष्नु चारि भुज बिधि मुख चारी। बिकट बेष मुख पंच पुरारी॥'*** वैसे ही यहाँ कवि चारोंकी शक्तियोंसे श्रीजानकीजीको अधिक सुन्दर कहते हैं। जैसे वहाँ त्रिदेवमें दोष दिखाया वैसे ही यहाँ उनकी शक्तियोंमें दोष दिखाये। जैसे वहाँ औरोंके नाम नहीं लिये, समुदायको कहा है, यथा—***'सुर नर असुर नाग मुनि माहीं। सोभा असि कहुँ सुनिअत नाहीं॥'*** वैसे ही यहाँ कहा कि ***'जौं पटतरिअ तीय महँ सीया। जग असि जुबति कहाँ कमनीया॥'***

बिष बारुनी बंधु प्रिय जेही। कहिअ रमा सम किमि बैदेही॥ ६॥

अर्थ—विष और मदिरा जिनके प्रिय भाई हैं उन लक्ष्मीजीके समान विदेहनन्दिनीजीको कैसे कहे?॥ ६॥

☞श्रीराजारामशरणजी लिखते हैं कि—'देखिये, क्रमशः कवि हमें किस उच्च शिखरपर ले आता है! सब उपमाएँ छूटीं, चन्द्रमा और अरुण नीचे रह गये। अब एक-एक करके देववधुएँ भी सीताजीकी तुलनामें नीचे रह गयीं। कविकी नैतिक सुकुमारता विचारिये कि अबतक श्रीरामजीद्वारा तुलना करायी थी, परंतु अब देववधुओंकी निन्दा उनके मुखसे ठीक न होती, कारण कि वे मर्यादापुरुषोत्तम हैं। हाँ, कविको सब अधिकार है। उदाहरणार्थ देखिये—***'नाम तो चतुरानन पै चूकते ही चले गए॥'*** और ***'न्याव न कीन्ह कीन्ह ठकुराई। बिनु कीन्हे लिख दीन्ह बुराई॥'*** (जायसी)। जब वे भगवान्तकको कह डालते हैं तब

फिर और कौन बचे? महाकाव्यकलामें 'सीता' जगदम्बा हैं तो फिर जगकी स्त्रियाँ उपमामें क्या ठहर सकती हैं? कदापि नहीं, चाहे वे देववधुएँ ही क्यों न हों।

नोट—१ ☞जैसे गिरा, भवानी और रतिके तनमें दोष दिखाये वैसे दोष लक्ष्मीजीके तनमें नहीं हैं। इसीसे तनमें दोष न कहे, वरंच उनकी उत्पत्तिके कारणमें दोष दिखाये। दोष चार स्थानसे देखे जाते हैं—कारणसे, स्वभावसे, सङ्गसे और अङ्गसे। लक्ष्मीमें चञ्चलता दोष है, पर इसे कविने न लिखा क्योंकि उसे (चञ्चलताको) छोड़कर वे भगवान्‌की सेवा करती हैं। यथा—'*जद्यपि परम चपल श्री संतत थिर न रहति कतहूँ। हरि पद पंकज पाइ अचल भइ करम बचन मनहूँ॥*' (विनय०) लक्ष्मीजी सुन्दरता और सुखकी मूल हैं, विषय-सुख उनके कटाक्षसे होते हैं। (पं० रामकुमारजी)

टिप्पणी—१ उत्तरोत्तर अधिक-अधिक दोष दिखाते आ रहे हैं। रतिसे अधिक दोष इनमें हैं। विष और वारुणी दोनों भाई इनको प्रिय हैं। अर्थात् इनको सदा कुसंग बना रहता है। दोनों इनके हृदयमें बसते हैं, यथा—'*कह प्रभु गरल बंधु ससि केरा अति प्रिय निज उर दीन्ह बसेरा॥ बिष संजुत कर निकर पसारी। जारत बिरहवंत नर नारी॥*' (६। १२) जैसे चन्द्रमाका प्रिय भाई होनेसे वह उसे हृदयमें बसाये रहता है वैसे ही लक्ष्मीजी इन्हें अपने हृदयमें बसाये रखती हैं। लक्ष्मी सबको विषरूप है और मदान्ध किये रहती है। किसीने कहा भी है—'*कनक कनकते सौगुनी मादकता अधिकात। वे खाए बौरात हैं ये पाए बौरात।*'

नोट—२ संत श्रीगुरुसहायलालजी लिखते हैं कि—'*बिष बारुनी बंधु प्रिय*' का भाव यह है कि लक्ष्मीजीका जहाँ निवास हुआ फिर तो मदिरा, अफीम, संखिया इत्यादि आसवादिका भक्षण-ही-भक्षण है, और लक्ष्मी भी ऐसे ही लोगोंके पास निश्चला हो गयीं। लक्ष्मीको भगवत्-विरोधीपर कुछ खयाल नहीं होता, किन्तु जैसे प्राकृत नारियोंको नैहरके लोग अत्यन्त प्यारे होते हैं वैसे ही समुद्रसम्बन्धी मान वह (विष-वारुणी) उनके प्रिय बान्धववर्गोंमें हो जाता है। इससे यह सिद्ध हुआ कि सागररूपी नैहरके अश्व आदि रत्न भी परिवार हैं, पर परम प्यारे विष और वारुणी ही हैं, जिसका फल नरक है। और श्रीसीताजीकी कृपादृष्टिसे लोग भगवल्लीन तद्रत हो जाते हैं।'

टिप्पणी—२ (क) ☞यहाँतक एक-एक अर्धालीमें एक-एक 'लोककी स्त्रियोंकी उपमाका निरूपण किया।' इस तरह तीन अर्धालियोंमें तीनों लोकोंकी स्त्रियोंका उपमारूपमें निरूपण हुआ। '*जग असि जुबति कहाँ कमनीया*' यह मर्त्यलोककी उपमाका हाल है। '*गिरा मुखर""अतनु पति जानी*' यह स्वर्गलोक और '*बिष बारुनी""*' यह पाताल लोककी उपमाका हाल है। लक्ष्मी पातालसे पैदा हुईं। अथवा समुद्रसे उत्पन्न हुईं और अथाह समुद्रमें वास करती हैं। (ख) '*कहिअ रमा सम किमि बैदेही*' इति। भाव कि श्रीजानकीजी विदेहकी कन्या हैं और लक्ष्मीजी जड़ समुद्रकी कन्या हैं; इससे पिता-सम्बन्धी दोष भी लक्ष्मीमें हैं और बन्धुवाला दोष प्रथम ही कह चुके। दूषितकी उपमा निर्दोषके लिये देनेसे दोष लगेगा—'*होइ दोष बड़ अनुचित कीन्हें।*' [बैजनाथजी कहते हैं कि विशेष शोभा तो मुग्धा अवस्थामें होती है और वे सब बड़ी हो गयी हैं। अवस्थाविरोध स्वाभाविक उपमानमें दूषण है इसलिये उपमा न दी।' (ग) '*गिरा मुखर""किमि बैदेही*' में व्यतिरेक अलंकार है क्योंकि उपमानोंसे उपमेयमें अधिक छबि कही गयी है]।

नोट—३ बाबा हरीदासजी लिखते हैं कि—'जो विष समुद्रमंथनसे निकला उसे तो शिवजी पी गये और वारुणीको दैत्य पी गये। अतएव यहाँ उनके सजातीय दूसरे विष-वारुणीका अर्थ होना चाहिये। विष और विषयकी एकता है, वह तो एक ही बार मारता है और विषयसे तो अनेक जन्म-मरण होते हैं। जहाँ रामका वास है; वहाँ रामविमुखतारूपी विषयका वास रहता है। वारुणी जो कलवारके यहाँ मिलती है उसे तो साधारण नीच लोग पीते हैं, पर रमामद ऊँच-नीच सब पीते हैं, इसका नशा सदा चढ़ा रहता है।' पुनः रमाके तो चौदह भाई-बहिन हैं पर विष-वारुणीको अति नीच जानकर यहाँ कहा है। धनुष भाईके संगसे दो दोष टेढ़ायी और जीवहिंसा, धन्वन्तरि भाईके संगसे दो दोष (जहाँ रमा तहाँ) भोग और रोग (जहाँ रोग तहाँ धन्वन्तरि), कामधेनुके संगसे दातव्यमें अविचार दोष आया (वह देवतादि जो

सुखी हैं उन्हींको देती है सो धन व्यर्थ खर्च होता है, भगवान्‌में नहीं लगता)। घोड़ेके संगसे चञ्चलता-दोष (कहीं स्थिर नहीं रहती), शंखका गुण कि भीतरसे पोला और कठोर शब्दयुक्त (रमाको पाकर सीधे मधुर बोला नहीं जाता), गजके संगसे मत्तता-दोष, मणि ऊपरसे प्रकाशमान और एक कनी कोई खा ले तो मर जाय (चोर, डाकू, छलिया उससे प्रेम करते हैं। इसे पाकर लोग ईश्वर-विमुख हो जाते हैं, इत्यादि दोष धनवान्‌में आ जाते हैं), कल्पतरुसे विचारहीनता-दोष, रंभासे निर्लज्जता-दोष, अमृतके संगसे *'लघु जीवन संबत पंच दसा। कल्पांत न नास गुमान असा॥'* यह दोष, इन्दुका दोष *'गुरुतियगामी……'* इत्यादि दोष रमावान् पुरुषोंमें होते हैं।

नोट—४ *'गिरा मुखर……बैदेही'* इति। बैजनाथजी लिखते हैं कि जब जगत्‌में कोई उपमायोग्य नहीं है तब उपमा कैसे बने? पुन: जब उपमेयका धर्म उपमानमें मिले तब उपमा कहने योग्य होती है। क्रिया, गुण और स्वभावयुक्त होना 'धर्म कहलाता है। जो उपमाएँ मिलती हैं उनमें धर्म (क्रिया-गुण-स्वभाव) विरोध पाया जाता है। जैसे सरस्वती रूपवती हैं पर बकवादी हैं और श्रीकिशोरीजीका गम्भीर स्वभाव है। अत: इस उपमामें स्वभावविरोध-दोष है। भवानीका तन आधा है और श्रीजानकीजी सर्वाङ्गपरिपूर्ण हैं। अत: भवानीके समान कहनेमें गुणविरोध-दूषण आता है। रति अनंगपति होनेसे सदा दु:खी रहती है और श्रीसीताजी सदा प्रसन्न हैं। अत: इस उपमामें क्रियादोष आता है। लक्ष्मीके विष और वारुणी प्रिय भाई हैं, अत: उनका कुछ-न-कुछ स्वभाव और क्रिया भगिनीमें हुआ ही चाहे। वह मदान्ध कर देती है, यह क्रिया-दोष इनमें है, अत: ये भी उपमायोग्य नहीं हैं।

जौ छबिसुधा पयोनिधि होई। परम रूपमय कच्छपु सोई॥७॥
सोभा रजु मंदरु सिंगारू। मथै पानि पंकज निज मारू॥८॥
दो०—येहि बिधि उपजै लच्छि जब सुंदरता सुखमूल।
तदपि सकोच समेत कबि कहहि सीय सम तूल॥२४७॥

शब्दार्थ—**छबि,** शोभा—नोटमें देखिये। **सम तूल**=समान।

अर्थ—जो छबिरूपी अमृतका समुद्र हो और कच्छपभगवान् वही हों पर परमरूपमय हों॥ ७॥ शोभा रस्सी हो और शृङ्गार ही मंदराचल हो और कामदेव अपने ही करकमलोंसे मथे॥ ८॥ इस प्रकार जब सुन्दरता और सुखकी मूल (एवं सुन्दरता और सुख जिसका मूल है)* लक्ष्मी उत्पन्न हों तो भी कवि बहुत ही संकोचके साथ कहेंगे कि वे सीताजीके समान हैं॥ २४७॥

नोट—१ *'समतूला'* एक शब्द है। यथा—*'ते सिर कटु तुंबरि समतूला। जे न नमत हरि गुर पदमूला॥'* (११३) (४) में विस्तारपूर्वक लिखा जा चुका है। यह गहोरा देशकी बोली है। ग्रन्थकार जहाँ-तहाँ देश-देशान्तरकी बोली ज्यों-की-त्यों लिख देते हैं। २—**छबि**=आकृतिकी लावण्यता—'**छबिलावण्यमिति वररुचि:**'। **सोभा**=कान्ति—'**शोभाकान्तीच्छयोर्मता**' इति। (मेदिनी)

नोट—२ यदि कहो कि कुछ तो उपमा कही जाय तो उसपर कहते हैं कि *'जौ छबिसुधा……।'* अर्थात् विष्णुभगवान्‌की शक्तिमें तो तमाम-से दोष हैं पर हाँ, इस प्रकारकी यदि रमाजी प्रकट की जायँ तो भले ही चाहे कोई कह सके कि सीताजीके समान होंगी। यद्यपि ऐसा भी कहनेमें संकोच ही होगा।

टिप्पणी—१ (क) *'जौ छबिसुधा……'* इति। *'जौ'* का भाव कि छबिसुधाका पयोनिधि होता ही नहीं, अत: कहते हैं कि यदि यह असम्भव भी दैवयोगसे सम्भव हो जाय। [*'छबिसुधा पयोनिधि'* का भाव कि दूधमें गुण और अवगुण दोनों हैं और अमृतमें केवल गुण ही है। उस अमृतसे काम न चलेगा। यहाँ छबिमय अमृत होना चाहिये। (बै०)] (ख) प्रथम पयोनिधि कहकर तब कच्छप कहा, क्योंकि

* अर्थान्तर—सुखकी मूल सुन्दरतावाली अर्थात् मुग्धावस्थासहित परिपूर्ण शोभावाली। (बै०)

समुद्र तो प्रथमसे था, भगवान् कच्छपरूप धरकर पीछे आये। (ग) *'कच्छपु सोई'* कच्छप वही हो जो प्रथम सिन्धुमन्थन-समय था। *'सोई'* कहनेका भाव कि समुद्र मन्थनके और सब अङ्ग बदल दिये पर *'कच्छप'* को नहीं बदलते, कारण कि कच्छप भगवान्के अवतार हैं, भगवान्से अधिक कौन सुन्दर है जिसको कच्छप कहें। (घ) छविको सुधा कहकर जनाया कि उस समुद्रसे यह समुद्र कहीं अधिक सुन्दर हो, वह क्षीरसमुद्र था जिससे वह लक्ष्मी निकली थीं, यह सुधासमुद्र हो जिसमेंसे उपमायोग्य लक्ष्मीको उत्पन्न करना है। (ङ) *'परमरूपमय'* कहनेका भाव कि भगवान्का वह कच्छपरूप भी रूपमय था, पर उससे काम न चलेगा, इसके लिये परमरूपमय कच्छप बनें अर्थात् उससे कहीं अधिक सुन्दरता धारण करें। [पुनः *'परमरूपमय कच्छप'* का भाव कि कच्छपावतार विभवरूप न होकर परमरूप हो। ब्रह्मचतुर्व्यूहरूप है—वासुदेव, सङ्कर्षण, प्रद्युम्न और अनिरुद्ध। इनमें वासुदेव व्यूह स्वयं अवतारी हैं, अन्य अवतार हैं। परमरूप वासुदेव व्यूह है। (वि० त्रि०)]

टिप्पणी—२ (क) *'सोभा रजु मंदरु सिंगारू।······'* इति। प्रथम कच्छपको कहकर तब मथनेको कहा क्योंकि जब कच्छपभगवान्ने आकर मन्दराचलको पीठपर थामा तब समुद्र मथते बना। प्रथम 'शोभा' कहकर पीछे 'शृङ्गार' कहनेसे शोभाकी बड़ाई दिखायी कि यहाँ प्रथमसे ही शोभा है, उसपर भी ऊपरसे शृङ्गार भी है—सोनेमें सुहागा। शृङ्गार करनेपर शोभा हुई तो उसमें शोभाकी बड़ाई नहीं है। जैसे पयोनिधि और कच्छपका संयोग है वैसे ही छवि और रुपका, रज्जु और मन्दरका संयोग है। रज्जुसे मन्दर बाँधा गया । इसी तरह शोभा और शृङ्गारका संयोग है, जहाँ शोभा है वहीं शृङ्गार है और जहाँ शृङ्गार है वहाँ शोभा है। (ख) *'मथै पानि पंकज निज मारू'* इति। यहाँ शोभाकथनका प्रकरण है। काम सब देवताओंसे सुन्दर है। इसीसे कामको मथनेवाला बनाया और हाथोंको कमल विशेषण दिया। (ग)—पयोनिधिसे लक्ष्मीको प्रकट करनेमें इतनी सामग्री एकत्र थी—पयोनिधि, कच्छप, मन्दराचल, रज्जु (वासुकी), दैत्य और देवता इत्यादि। वैसे ही इस छविसुधापयोनिधिके लिये परमरूपमय कच्छप, शोभा (रज्जु), शृङ्गार (मन्दराचल) और कामदेव इत्यादि सामग्री चाहिये। जिससे सुन्दर लक्ष्मी उत्पन्न की जा सके। यही सब सुन्दर लक्ष्मीकी उत्पत्तिके मूल हैं, इसीसे दोहेमें 'सुन्दरता मूल' कहते हैं। (घ) *'सुखमूल'* का भाव कि यहाँ सब काम सुखमय है' सब काम सुखपूर्वक ही है, मथनेवालेको सुख, सर्पको सुख, कच्छपको सुख इत्यादि। [एक भाव तो स्पष्ट ही है, दूसरा भाव *'सुंदरता सुख मूल'* का यह है कि पूर्व पयोनिधि-मन्थनमें कुछ भी सामग्री सुन्दर न थी। समुद्र कहाँसे सुन्दर हो वह तो खारा है, (अथवा , दूधका ही सही, पर दूधमें भी गुण और अवगुण दोनों हैं), पर्वत भी सुन्दर नहीं इत्यादि। और यहाँ सब साज सुन्दर—छबि, शृङ्गार, शोभा और देवताओंसे कितना अधिक सुन्दर कामदेव मन्थन करनेवाला·········यहाँ सुन्दरताकी एवं सुखकी मूल और वहाँ दुःख-ही-दुःखकी मूल। यहाँ समुद्र मथा गया, कमठको दुःख, दैत्य-देवता सबको दुःख हुआ और यहाँ सब सुखी।]

* 'तदपि सकोच समेत कबि कहहिं सीय समतूल'*

जब ऐसी सुन्दर सामग्रीसे सुन्दर लक्ष्मी उत्पन्न हो गयीं तब तो उपमा देनी चाहिये थी। श्रीसीताजीके समान कहनेमें क्यों संकोच है? यह शङ्का उठाकर उसका समाधान लोगोंने इस प्रकार किया है—

पं० रामकुमारजी—'उत्पत्ति दो कारणोंसे होती है। एक उपादान, दूसरा निमित्त। जैसे घड़ेके लिये मृत्तिका उपादान कारण और कुम्हार निमित्त कारण है। यहाँ छबि, रूप, शोभा, शृङ्गार और काम ये सब लक्ष्मीकी उत्पत्तिके निमित्तकारण हैं। इसीसे सीतासमान कहनेमें संकोच है। जो इन पाँचोंके मथनेपर (इन पाँचोंके यथार्थ संयोगसे) लक्ष्मी निकलतीं तो संकोच न होता। यथा—*'सुखमा सुरभि सिंगार छीर दुहि मदन अमियमय कियो है दही री। मथि माखन सियराम सँवारे सकल भुवन छबि मनहु मही री॥'* (गी० १। १०४) इन सबोंका तत्त्व श्रीराम-जानकीजी हैं। इस प्रकार जो सबकी तत्त्वरूपी लक्ष्मी निकलतीं तो श्रीसीताजीके समान करनेमें संकोच न होता।' (संकोचका कारण यह है कि शोभा और शृङ्गाररसका मन्थन न हुआ, उनकी उपस्थितिमात्र थी।) जहाँ इनका भी मन्थन हुआ है वहाँ कहनेमें संकोच नहीं है। (वि० त्रि०)

रा० प्र०, गौड़जी—कामदेव आदि सब यहाँ निमित्तकारण हैं। कार्यकी उत्तमता कारणकी योग्यतापर निर्भर है। यहाँ कामदेव मथनेवाला जो निमित्तकारणोंमेंसे एक है वह परात्परकी सृष्टिका एक अत्यल्पांश है, सो उस बेचारेमें क्या योग्यता होगी, जब *'कोटि काम उपमा लघु सोऊ', 'अंग अंग पर बारिअहि कोटि कोटि सत काम',* और योग्यता भी कैसी चाहिये कि मथकर उसके बराबर *'सुंदरता सुख मूल'* लक्ष्मी निकाले कि *'उपजहिं जासु अंस गुनखानी। अगनित उमा रमा ब्रह्मानी॥'*—यह कामदेवसे हो सकनेकी कल्पना भी दुर्घट है। इसीलिये कविको ऐसी अभूतोपमा कल्पिता लक्ष्मीसे भी समता देनेमें संकोच होता है।

श्रीराजारामशरणजी (लमगोड़ाजी)—एक समय जब मैं आगरा कालेजमें ऐसिस्टेन्ट प्रोफेसर था और मैंने कविकी कल्पनाकी सूक्ष्मताका यह चढ़ाव बताया तो मेरे एक शिष्य मित्रने कहा कि अबतक तो वर्णन 'निषेधात्मक' (Destructive) ही है, ऐब निकालना कठिन नहीं।—इस विचार-संघर्षमें मुझे तुलसीदासकी कलाका 'रचनात्मक' (Constructive) गौरव प्रतीत हुआ। कविने विशेष 'विधि' से जो लक्ष्मी उत्पन्न करायी है, वह वास्तविक लक्ष्मीसे कितनी असीम अधिक सुन्दर होगी यह साफ जान पड़ता है, जब हम देखते हैं, कि 'माल-मसाला' (Raw material) भी बदल गया, क्षीरसागरकी जगह 'छबिसुधा' का समुद्र है, मशीन भी बदली—परमरूपमय कच्छप है, पत्थरकी मथानीकी जगह शृङ्गारकी मथानी है, वासुकीकी विषैली रस्सीकी जगह शोभाकी रस्सी है; यन्त्रसंचालक भी वहाँ अनमिल बेजोड़ थे। सुर और असुर, पर यहाँ कामदेव है; संचालन-विधि वहाँ उथल-पुथलवाली थी और यहाँ मथना 'पाणिपङ्कज' से है।— कविताके इस गुणको (Idealization) 'आदर्श सुधार' कहते हैं। चतुराननकी विधिमें कितनी चूकें निकाल दीं?

अब दूसरे गुणपर विचार कीजिये जिसे संकेतकला (Suggestiveness) कहते हैं। देखिये, अब भी कविने सीताजीको उस लक्ष्मीसे उपमा न दी। कारण कि जिससे उपमा देते हैं उसे बड़ा मानते अवश्य हैं। जैसे, 'तुम अपने समयके रुस्तम हो' में संकेत है कि रुस्तम बड़ा है। लक्ष्मीजीसे उपमा देनेमें लक्ष्मीजीकी बड़ाई वैसे ही हो गयी लेकिन फिर भी यह लक्ष्मी भी कहना कम है। संकोचके साथ ही सीताजीसे उसकी उपमा दी। कारण कि जितना सुधार बताया वह छबि, रूप, शोभा, शृङ्गार तथा शृङ्गाररसका है—और सीताजीके आत्मिक गुण अब भी न आये। गालिबने भी आमकी प्रशंसामें कहा है—*'आशते गुल पै क़द का है कवाम। शीरेके तारका है रेशा नाम।'* इस पद्यमें भी काव्यकलाके दोनों गुण लघुरूपमें हैं। मानो रमा सबसे सुन्दर देववधू थीं; सुधारकर उनसे सुन्दर रमा बनायी। पर यदि सीता 'आम' हैं तो यह सुधारी हुई रमा गालिबके शब्दोंमें केवल उनका रेशा है। सारी कोशिशपर भी सुन्दरता और सुख ही आये जो केवल अंश हैं।

मैं तो इस उपमाकी इस चढ़ती हुई श्रेणीकी कलाको तुलसीदासका कमाल कहता हूँ। सारे कवि क्या पाश्चात्त्य जगत्के, क्या पूर्वी जगत्के, हमें तो वैसे ही छोटे दिखते हैं जैसे एवरेष्ट (हिमालयकी चोटी) के सामने और पहाड़ोंकी चोटियाँ।

श्रीहनुमानप्रसाद पोद्दार—जिन लक्ष्मीकी बात ऊपर कही गयी है वे निकली थीं खारे समुद्रसे, जिसको मथनेके लिये भगवान्ने अति कर्कश पीठवाले कच्छपका रूप धारण किया, रस्सी बनायी गयी महान् विषधर वासुकी नागकी, मथानीका काम किया अतिशय कठोर मंदराचल पर्वतने और उसे मथा सारे देवताओं और दैत्योंने मिलकर। जिन लक्ष्मीको अतिशय शोभाकी खानि और अनुपम सुन्दरी कहते हैं उनको प्रकट करनेमें हेतु बने ये सब असुन्दर एवं स्वाभाविक ही कठोर उपकरण ऐसे उपकरणोंसे प्रकट हुई लक्ष्मी श्रीजानकीजीकी समताको कैसे पा सकती हैं। हाँ, इसके विपरीत *'जौं छबिसुधा····· समतूल।'*

जिस सुन्दरताके समुद्रको कामदेव मथेगा वह सुन्दरता भी प्राकृत, लौकिक सुन्दरता ही होगी; क्योंकि कामदेव स्वयं भी त्रिगुणमयी प्रकृतिका ही विकार है। अत: उस सुन्दरताको मथकर प्रकट की हुई लक्ष्मी भी उपर्युक्त लक्ष्मीकी अपेक्षा कहीं अधिक सुन्दर और दिव्य होनेपर भी होगी प्राकृत ही, अत: उसके साथ भी जानकीजीकी तुलना करना कविके लिये बड़े संकोचकी बात होगी। जिस सुन्दरतासे जानकीजीका दिव्यातिदिव्य परम दिव्य विग्रह बना है वह सुन्दरता उपर्युक्त सुन्दरतासे भिन्न अप्राकृत है।—वस्तुत: लक्ष्मीजीका

अप्राकृत रूप भी यही है। वह कामदेवके मथनेमें नहीं आ सकती और वह जानकीजीका स्वरूप ही है' अत: उनसे भिन्न नहीं, और उपमा दी जाती है भिन्न वस्तुके साथ। इसके अतिरिक्त जानकीजी प्रकट हुई हैं स्वयं अपनी महिमासे। उन्हें प्रकट करनेके लिये किसी भिन्न उपकरणकी अपेक्षा नहीं है। अर्थात् शक्ति शक्तिमान्से अभिन्न, अद्वैत तत्त्व है, अतएव अनुपमेय है, यही गूढ़ दार्शनिक तत्त्व भक्तशिरोमणि कविने इस अभूतोपमालंकारके द्वारा बड़ी सुन्दरतासे व्यक्त किया है।

पाण्डेजी—*'सीय सम तूल।'* उस लक्ष्मीको भी सीताजीके समान कहनेमें अर्थात् सीताजीको उपमान स्थानमें और उस लक्ष्मीको उपमेय स्थानमें रखनेमें भी कविको लज्जा लगती है। (वीर कविजीका मत है कि 'छबि, परमरूप, शोभा और शृङ्गार' ये चारों छबिहीके रूपान्तर पर्यायी शब्द हैं। एक ही वस्तुको समुद्र, कच्छप, रस्सी और मथानी वर्णन करना 'द्वितीय उल्लेख अलंकार' है। यह उल्लेख सम्भावनाका अङ्गी है। दोहेमें 'सम्भावना अलंकार' है और व्यंग्यार्थद्वारा व्यतिरेक अलंकारकी विवक्षितवाच्य ध्वनि है।)

चलीं संग लै सखी सयानी। गावत गीत मनोहर बानी॥ १॥
सोह नवल तनु सुंदर सारी। जगत जननि अतुलित छबि भारी॥ २॥
भूषन सकल सुदेस सुहाए। अंग अंग रचि सखिन्ह बनाए॥ ३॥

शब्दार्थ—**नवल**=नूतन, नव्य, सुन्दर, स्वच्छ। **अतुलित**=प्रमाणरहित, अतुलनीय।

अर्थ—सयानी सखियाँ श्रीसीताजीको साथमें लेकर सुन्दर वाणीसे मनके हरनेवाले सुन्दर गीत गाती हुई चलीं॥ १॥ सुन्दर नवल शरीरपर सुन्दर साड़ी शोभित है। जगज्जननी श्रीसीताजीकी भारी छबि अतुलनीय है॥ २॥ सुन्दर अङ्गोंमें यथायोग्य अपनी-अपनी जगहपर सब भूषण शोभित हैं, (जिन्हें) सखियोंने अङ्ग-अङ्गमें सजाकर पहनाये हैं॥ ३॥

टिप्पणी—१ (क) *'चतुर सखी सुंदर सकल सादर चलीं लेवाइ'* २४६ पर चलनेका प्रसंग छोड़ा था। बीचमें शोभाके सम्बन्धमें कहने लगे थे। अब फिर वहींसे प्रसंग उठाते हैं—*'चलीं संग लै सखी सयानी॥'* इस तरह *'सयानी'* का अर्थ 'चतुर' है, यह स्पष्ट कर दिया। आदरसे ले चलीं यही सयानपन है, यही सयानेका धर्म है। (ख)—'सखियाँ लेकर चलीं' इसीसे सखियोंको यहाँ प्रधान कहा। फुलवारीमें सखियोंको लेकर 'सीताजी गिरिजापूजन करने गयी थीं' इससे वहाँ श्रीजानकीजीको प्रधान कहा था, यथा *'संग सखीं सब सुभग सयानी। गावहिं गीत मनोहर बानी।'* (२२८। ३) (ग)—*'गावत गीत मनोहर बानी'* इति। वाणी किसके मनको हरती है, यह आगे विवाह-प्रकरणमें स्पष्ट किया है, यथा—*'कल गान सुनि मुनि ध्यान त्यागहिं काम-कोकिल लाजहीं।'* (घ)—यहाँ सखियोंकी चतुरता तीन प्रकारसे दरसायी—चलनेमें चतुर, व्यवहारमें चतुर (संग लेकर चलीं यह व्यवहार है) और गीत गानेमें चतुर। (ङ)—यहाँतक सखियोंकी मनोहरता चार प्रकारसे दिखायी। सखियाँ मनोहर, यथा—*'छबिगन मध्य महाछबि जैसी'* *'चतुर सखी सुंदर सकल……।'* उनकी चाल मनोहर, यथा—*'चालि बिलोकि कामगज लाजहिं।'* उनके गीत और वाणी मनोहर हैं। [नाटकीय कलामें रंगमंचपर इसका प्रभाव विचारणीय है। (लमगोड़ाजी)]

टिप्पणी—२ *'सोह नवल तनु सुंदर सारी।……'* इति। (क) इससे नवल तनकी शोभा कही। अर्थात् नवल तन सुन्दरको भी सुन्दर करनेवाला है, यथा *'सुंदरता कहँ सुंदर करई।'* (ख)—*'जगत जननि अतुलित छबि भारी'* इति। ग्रन्थकार केवल कवि नहीं हैं। वे कवि भी हैं और भक्त भी। इसीसे वे मातृबुद्धिसे शोभा-कथन करनेमें सकुचाते हैं। फिर भी युक्तिसे शोभाका वर्णन करते हैं। छबि भारी है अर्थात् वर्णन नहीं हो सकता और उपमाके द्वारा कहें भी तो कोई तुलना नहीं है। (ग) *'अतुलित छबि भारी'* कहनेका भाव कि छबि-सुधापयोनिधिके मंथन करनेसे जो लक्ष्मी उत्पन्न हुई सो भी श्रीजानकीजीकी उपमाके योग्य न ठहरीं तब और तुलना किससे की जाय। अत: उनकी छबिको 'अतुलित और भारी' कहकर उसके वर्णनका साहस छोड़ना पड़ा। त्रैलोक्यमें कोई तुलना नहीं है। ☞ इस तरह न बखान कर सकनेके दो कारण कहे—एक तो यह कि जगज्जननी हैं—इसमें

पाया गया कि वर्णन करते पर पापके डरसे नहीं करते; उसपर दूसरा कारण कहते हैं कि छबि अतुलित भारी है, उसका वर्णन हो ही नहीं सकता। तब वर्णन करें भी तो कैसे?

टिप्पणी—३ *'भूषन सकल सुदेस सुहाए।......'* इति। (क) जैसे नवल तनकी शोभासे साड़ीकी शोभा कही वैसे ही अब अङ्गोंकी शोभासे आभूषणोंका शोभित होना कहते हैं; इस तरह शृङ्गार और भूषण दोनों कहे। शृङ्गारमें 'सारी' है और द्वादश आभूषणोंमें 'सकल भूषण' हैं। ☞कविने न तो अङ्गोंकी शोभा वर्णन की और न उपमा ही दी, केवल साड़ी और आभूषणोंकी शोभा तन और अङ्गोंके सम्बन्धसे कही। 'सुदेस' (=सुन्दर देश) से अङ्गोंकी शोभा कही, *'रचि सखिन्ह बनाए'* से पहनानेकी शोभा कही, *'सखिन्ह'* बहुवचन देकर जनाया कि सबका प्रेम जानकीजीपर है, इसीसे सबने पहनाया। जैसे—*'सासुन्ह सादर जानकिहि मज्जन तुरत कराइ। दिव्य बसन बर भूषन अँग अँग सजे बनाइ॥'* (७। ११) में सब सासुओंका प्रेम दिखाया है, वैसे ही यहाँ सखियोंका दिखाया। पुनः, *'सुदेस सुहाए'* का भाव कि 'सकल भूषण जो रम्भादिकके अङ्गोंरूपी ('कु' अर्थात् कुत्सित) काल देशमें पड़के दुबले हो गये थे। सो श्रीजानकीजीके अङ्ग-सुदेशमें आकर मोटे हो गये और अङ्गसे शोभाको प्राप्त हुए।' (पाँ०)]

वि० त्रि०—आभरण बत्तीस कहे गये हैं। इनके पहनानेमें बड़ी पण्डिताई है। इसलिये रचकर सँवारना कहा है। सखियोंका कर्तव्य मण्डन, शिक्षा, उपालम्भ और परिहास है। उपालम्भ और परिहास फुलवारी-प्रसंगमें कह आये हैं। मण्डन इस समय कह रहे हैं। शिक्षा आगे समय पाकर कहेंगे।

नोट—१ यहाँ यह शङ्का उठाकर कि 'पूर्व तो गोस्वामीजीने कहा कि कोई भी उपमा देने योग्य नहीं है और फिर यहाँ कहते हैं कि छबि भारी अतुलित है। जब ऐसी भारी सुन्दरता है तब बहुत (विस्तृत) वर्णन करना चाहिये था सो बहुत अल्प वर्णन किया। यह क्यों?' इसका उत्तर पं० रामकुमारजीने यह दिया है कि गोस्वामीजी साधु हैं, भक्त हैं और कवि भी, अतः उन्होंने दोनों विचारोंसे काम लिया है। उन्होंने किसी अङ्गका नाम न लिया न उपमा दी। प्रत्यक्ष कुछ शृङ्गार कहा भी नहीं और *'भूषन बसन'* शब्दोंसे कह भी डाला—सब शृङ्गार इसके भीतर आ जाता है, इत्यादि टिप्पणीमें लिखा जा चुका है।

नोट—२ पाँड़ेजी लिखते हैं कि यहाँ *'सोह नवल तन.....भारी'* इस अर्धालीके एक पल्ले (चरण) में शृङ्गाररस कहा है और दूसरेमें शान्तरस। इसको कवि रसाभास कहते हैं, क्योंकि शृङ्गार और शान्तसे विरोध है। परन्तु यहाँ दोनोंको इकट्ठा करनेका प्रयोजन यह है कि शृङ्गाररससे जो सुनने वा कहनेवालेके चित्त (में) पत्ता उड़ता जाय वह शान्तरसके अतुलित भारी पहाड़में दब जाय। दूसरा अर्थ यह है कि 'जगज्जननीकी अतुलित भारी छबिसे 'सारी सुन्दरियाँ' अर्थात् सारी सखियाँ एवं गिरा, भवानी, लक्ष्मी और रति इत्यादि सुशोभित हो रही हैं। (यह भाव 'सुंदरि' पाठ करनेपर हो सकेगा)। वा, भवानी लक्ष्मी आदि अतुलित छबिवाली जगत्-माताएँ इस नवलतनसे सुशोभित हुई हैं।' इत्यादि।

नोट—३ बैजनाथजी कहते हैं कि 'यहाँ माधुर्य शृङ्गार-रससे वर्णन उठाया पर यह रस केवल शृङ्गाररसिक महात्माओंके योग्य है। दास, वात्सल्य आदि रस इस रसमें ठहर नहीं सकते। और यह ग्रन्थ सभी रसवालोंके लिये है, अतएव शृङ्गाररसको प्रधान रखते हुए उनके मनके आधारके लिये शान्तरसको उसके आश्रित कर शान्तरसमें ऐश्वर्य दर्शाते हैं कि ये जगज्जननी हैं; जगत्‌की उत्पत्ति, पालन, संहार करनेवाली हैं, उनके तनमें अतुलित भारी छबि है; अतः कौन कह सकता है।

रंगभूमि जब सिय पगु धारी। देखि रूप मोहे नर नारी॥ ४॥

शब्दार्थ—**रंगभूमि**=वह स्थान जहाँ धनुषयज्ञका उत्सव मनाया जा रहा था।

अर्थ—जब श्रीसीताजीने रंगभूमिमें पैर रखा तब स्त्री-पुरुष (सभी उनका) रूप देखकर मोहित हो गये॥ ४॥

नोट—१ ☞कुछ लोग उत्तरकाण्डकी *'मोह न नारि नारि के रूपा'* इस चौपाईको कहकर यहाँ शंका करते हैं कि 'यहाँ श्रीसीताजीके रूपपर 'नारी' क्यों मोहित हो गयीं?' और उसका समाधान भी किया है—

१ संत गुरुसहायलालजी लिखते हैं कि *'मोह न नारि नारि के रूपा'* जो कहा गया वह सामान्य

प्राकृत स्त्रियोंके विषयमें है। और यह तो विदेह-दशाकी कुमारी-रूप है—'**तुरीया जानकी चैव तुरीयो रघुनन्दनः**'। '***मोहे***' अर्थ मोह कर्म तान्त्रवत् वृत्ति हो गयी कि भला होता जो इनके सम्मुख बने रहते। यहाँ 'कामासक्त होना' अर्थ नहीं है। पुनः '***मोहे***' अर्थात् मोहनी-विद्या इस तरहकी छा गयी कि सबके चित्तमें ऐसी निष्ठा हुई कि बिना धनुष-भंग किये ही इनका विवाह रामजीसे कर दिया जाय।'

२ पं० रामकुमारजी लिखते हैं कि 'यहाँ रूपकी बड़ाई करते हैं कि ऐसा भारी रूप है कि नर-नारी सभी देखकर मोहित हो गये। '***मोह न नारि नारि के रूपा। पन्नगारि यह रीति अनूपा॥***' में नीति वा रीति वर्णन की कि नारीको देखकर नारी नहीं मोहित होती। यह साधारण रूपकी बात कही और जिनके विषयमें कहते आ रहे हैं कि '***जौं छबिसुधा पयोनिधि होई।''''' तदपि समेत सकोच कबि कहहिं सीय समतूल***' उनके ऐसे परम विलक्षण रूपको देखकर जो सब स्त्री-पुरुष मोहित हो गये तो आश्चर्य ही क्या? इनके रूपके आगे रीतिकी मर्यादा न रह गयी। स्त्रीको देखकर स्त्री नहीं मोहित होती सो भी मोहित हो गयी; यह रूपकी अधिकता है, जैसे श्रीरामजीको देखकर खर-दूषण मोहित हो गये, उनमें कामविकार नहीं उत्पन्न हुआ।

३ श्रीगौड़जी इसका समाधान इस प्रकार करते हैं कि—'उत्तरकाण्डमें ज्ञान, भक्ति और मायाके प्रसंगमें कहा गया कि ज्ञान मायापर मोहित हो जाता है, भक्ति मायापर मुग्ध नहीं होती, क्योंकि स्त्रीका स्त्रीपर आसक्त होना अस्वाभाविक है। यहाँ '***देखि रूप मोहे नर नारी***' में किसी प्रकारकी आसक्तिका भाव नहीं है। यहाँ तो नर-नारी कन्या सीताकी शोभाको वात्सल्य-भावसे देखते हैं और मोहित हो जाते हैं। उत्तरकाण्डवाली चौपाईमें रति-भाव है और यहाँ वात्सल्य-भाव है।' इसपर श्रीराजारामशरण (लमगोड़ा) जी कहते हैं 'इतना ही क्यों? शृङ्गारके माधुर्य तथा सौन्दर्य-परख (Esthetic Faculty) की सीमातक सब प्रकारका मोहना है, हाँ, वह 'मोह' नहीं जो पारिभाषिक है।'

४ श्रीनंगेपरमहंसजी लिखते हैं कि—'***देखि रूप मोहे नर नारी***' और '***मोह न नारि नारि के रूपा***' दोनों पद अपने-अपने स्थलपर यथार्थ हैं, परंतु दोनों प्रसंगोंको मेलकर एक अर्थ करना नासमझी है; क्योंकि एक पदमें नेत्रका विषय है, दूसरेमें मनका विषय है, इसलिये दो तरहके भाव हैं। क्योंकि मोह होनेके तीन कारण हैं—१—सुन्दर रूपको देखकर मोह होता है। २—स्त्री-पुरुष दोनोंके परस्पर संग होनेसे काम-विषयक मोह होता है। ३—दयाके वश होकर भी मोह होता है। इन्हीं तीन कारणोंसे मोह होता है। जब मोह होनेके तीन कारण हैं और तीनों कारणोंके स्वरूप भिन्न-भिन्न हैं तब मोहमें परस्पर मेल कैसे हो सकता है?......रूप देखकर मोहना नेत्रका विषय है; चाहे वह सुन्दर रूपवान् स्त्री या पुरुष, पशु या पक्षी कोई हो, उसे देखकर मन मोहित होता जाता है......उसी तरह श्रीजानकीजीका सुन्दर रूप देखकर सब नर-नारी मोहित हो गये। नर-नारी दोनोंको मोह होना कामविषयक मोहका अभाव करता है, यदि कामविषयक मोह यहाँ होता तो नर-नारी दोनोंका मोहना नहीं लिखा जाता, क्योंकि कामविषयमें स्त्रीके रूपसे स्त्री मोहित नहीं होती, यह नीति है—'***पन्नगारि यह नीति अनूपा***'। स्त्रीके सुन्दर रूपको देखकर नर-नारी दोनोंको मोह होना यह सुन्दर रूपका प्रसङ्ग है और स्त्रीके रूपसे स्त्रीको मोह न होना कामविषयक प्रसंग है—दोनों प्रसंग भिन्न-भिन्न हैं, इनका मेल नहीं हो सकता। पुनः, जैसे—'***हरि हित सहित राम जब जोहे। रमा समेत रमापति मोहे॥***' जिस प्रकार श्रीरामजीको देखकर रमा और रमापति मोहे हैं वैसे ही श्रीजानकीजीको देखकर नर-नारी मोहित हुए हैं।'

५ बाबा हरीदासका भी मत है कि 'ईश्वरमें जीवधर्म घटित करना उचित नहीं है। जो श्रीसीताजी उद्भवस्थिति-संहारकारिणी हैं उनमें '***मोह न नारि नारि के रूपा***' यह जीवधर्म प्राकृत स्त्रियोंका हाल घटाना ठीक नहीं है।

६ मा० त० वि० कार एक भाव यह लिखते हैं—'नर यहाँतक मोहित हो गये कि तदाकार-वृत्तिद्वारा नारीरूप हो गये। इस तरह अबला हो गये जिसमें धनुर्भंगमें कोई समर्थ नहीं हो। अतः '***हरषि सुरन्ह दुंदुभी बजाई।***' यहाँ '**मोह**'=अन्य लिङ्ग होगा। यथा—'**मोहोऽन्यलिङ्गः स्यादविद्यायां च मूर्छने**' इति मेदिनी।'

७ प० प० प्र०—यह मोह काम-विकारजनित नहीं है। यह अप्राकृतिक सौन्दर्यका प्राकृत नर-नारियोंपर जो प्रभाव पड़ा उसका परिणाम है। यह गुणातीत वाचातीत रूपका प्रभाव है। और *'मोह न नारि नारि के रूपा'* यह मोह काम-विकार-जनित है जैसा उसके ऊपरके दोहे—*'सोउ मुनि ज्ञाननिधान मृगनयनी बिधु मुख निरखि। बिबस होइ हरिजान नारि विष्णुमाया प्रगट।'* (७। १११)

वि० त्रि०—अलौकिक शोभा ऐसी है कि सहज पुनीत श्रीरामजीका मन क्षुब्ध हो गया तो नारियोंका मोहना कौन आश्चर्य है? सभी नियमोंमें अपवाद होता है। विश्वमोहिनीका रूप देखकर लक्ष्मी मोहित होती थीं। यथा—*'श्री बिमोह जिसु रूपु निहारी।'* प्राकृत नारियोंकी गिनती ही क्या है?

नोट—२ *'मोहे'*—मोहित हो गये, मुग्ध हो गये, टकटकी लगाये शोभा देखते रह गये, सब वाह-वाह करने लगे, इत्यादि भाव यहाँ हैं, यथा—*'रूप दीपिका निहारि मृगमृगी नरनारि बिथके बिलोचन निमेषैं बिसराइकै।'* (गी० १। ८२। ६) पुनश्च सत्योपाख्याने यथा—**'यं यं विलोकते सीता स्वभावात्पुरुषं स्त्रियम्। अमज्जतानन्दहृदे स्वभाग्यं मन्यतेऽधिकम्।'** (अ० २ उत्तरार्द्ध श्लोक २०) अर्थात् जो-जो स्त्री-पुरुष श्रीसीताजीको स्वाभाविक देखते उनके हृदय आनन्दमें मग्न हो जाते और वे अपने भाग्यको बहुत बड़ा मानने लगते थे। यह भाव यहाँके *'मोहे'* शब्दसे कविने सूचित किया है।

टिप्पणी—१ *'रंगभूमि जब सिय पगु धारी।'* भाव कि यहाँतक श्रीजानकीजी शिविकामें आयीं—*'सतानंद ल्याए सिय सिबिका चढ़ाइकै'।* अब रंगभूमिमें पहुँचकर पालकीसे उतरीं। *'चली संग लै सखीं सयानी'* यहाँसे प्रसंग मिलाते हैं। चलकर जब यहाँ आयीं। (कल्पभेदसे दोनों भाव हो सकते हैं। गीतावलीमें पालकीपर चढ़कर आना कहा है और यहाँ पैदल चलकर आना भी अर्थ कर सकते हैं। पग धरना=पधारना, पहुँचना।)

टिप्पणी—२ प्रथम रूपका वर्णन करके पीछे *'नर नारी'* का मोहित होना कहा। इसमें एक भाव यह है कि 'श्रीसीताजी श्रीरामजीकी आद्याशक्ति हैं, माया हैं, माया विश्वमोहिनी होती ही है, इस भावसे सब नर-नारी मोहित हुए', सम्भव है कि ऐसा लोग कहें पर यह बात नहीं है। इसीका निषेध करनेके लिये कहते हैं कि *'रूप देखि मोहे'* अर्थात् मायासे मोहित नहीं हुए, उनका 'रूप' देखकर मोहित हुए। ☞ यहाँ नर-नारीका मोहना कहा, क्योंकि यहाँ नरसमाज है, यहाँ मनुष्य ही हैं और महादेव-पार्वतीके विवाहमें देवसमाज था, इससे वहाँ देवताओंका मोहित होना कहा, यथा—*'देखत रूप सकल सुर मोहे'।*

हरषि सुरन्ह दुंदुभी बजाई। बरसि प्रसून अपछरा गाई॥ ५॥
पानि सरोज सोह जयमाला। अवचट चितए सकल भुआला॥ ६॥

अर्थ—देवताओंने प्रसन्न होकर फूल बरसाकर नगाड़े बजाये और पुष्प बरसा-बरसाकर अप्सराएँ गाने लगीं॥ ५॥ करकमलोंमें जयमाल सुशोभित है। उन्होंने समस्त राजाओंको अवचट (अचक्का, औचक वा अचानक ही) देखा॥ ६॥*

टिप्पणी—१ (क) *'हरषि सुरन्ह'''''*। देवता श्रीयुगल सरकार श्रीसीतारामजीका दर्शन कर रहे हैं। उनका रूप-सादृश्य अर्थात् दोनोंका सादृशरूप देखकर देवताओंको हर्ष हुआ, वे आनन्दमें मग्न हो पुष्पोंकी वर्षा करने लगे। पुनः, फूलोंकी वृष्टि करना और नगाड़े बजाना यह देवताओंकी सेवा है—*'बरषहिं सुमन जनावहिं सेवा।'* सेवाके समयमें हर्ष होना आवश्यक है; अतः हर्षित हो सेवा और मंगल शकुन जनाते हैं। ☞ श्रीरामजीके आगमनपर देवताओंका गाना कहा था—*'बरषहिं सुमन करहिं कल गाना॥'* (२४६। ८) और श्रीजानकीजीके आगमनपर अप्सराओं अर्थात् देववधूटियोंका गाना लिखते हैं—पुरुषके आगमनमें पुरुष और स्त्रीके आगमनपर स्त्रियोंने गान किया, यह परस्पर जोड़ दिखाया। (त्रिपाठीजीका मत है कि पुष्पवर्षा अप्सराओंने की, स्त्रीपर पुष्पवर्षाका अधिकार स्त्रियोंको ही है। भगवतीपर पुष्पवर्षाका साहस देवताओंको नहीं हुआ, अतः वे दुन्दुभी बजाने लगे।) दोनोंका आगमन एक समान वर्णन किया गया, यथा—

* अर्थान्तर—सब राजाओंने उनको अचानक देखा।

जानि सुअवसर सीय तब पठई जनक बोलाइ	*१. राजकुँवर तेहि अवसर आए*
रंगभूमि जब सिय पगु धारी	*२. रंगभूमि आए दोउ भाई*
हरषि सुरन्ह दुन्दुभी बजाई	*३. देखहिं सुर नभ चढ़े बिमाना*
बरषि प्रसून अपछरा गाई	*४. बरषहिं सुमन करहिं कल गाना*
देखि रूप मोहे नर नारी	*५. देखि लोग सब भए सुखारे। एकटक लोचन चलत न तारे*
सिय सोभा नहिं जाइ बखानी	*६. श्रीरामजीकी शोभा वर्णन की*
पानि सरोज सोह जयमाला	*७. कर सर धनुष बाम बर काँधे*
उपमा सकल मोहि लघु लागी	*८. सहज मनोहर मूरति दोऊ। कोटि काम उपमा लघु सोऊ*
भए मोह बस सब नर नाहा	*९. प्रभुहि देखि सब नृप हिय हारे*
बिनु बिचार पन तजि नरनाहू।	*१०. असि प्रतीति सब के मन माहीं। राम चाप तोरब सक*
सीय राम कर करहि बिबाहू॥······	*११. नाहीं। बिनु भंजेहु भवधनुष बिसाला*········
जानि सुअवसर सीय तब पठई जनक·····।	*११. चलहु तात मुनि कहेउ तब पठवा जनक*·····
चली संग लै सखी सयानी	*१२. पुनि मुनिबृंद समेत कृपाला। देखन चले धनुषमखसाला*
जगतजननि अतुलित छबि भारी	*१३. मनहु मनोहरता तन छाए*
सोह नवल तन सुंदर सारी	*१४. कटि तूनीर पीत पट बाँधे*

टिप्पणी—२ (क) '**पानि सरोज सोह जयमाला**' कहकर जयमालकी शोभा कही। जयमाल एक तो स्वयं शोभित है, दूसरे करकमलोंसे भी शोभा पा रहा है, तीसरे जयकी शोभासे युक्त होनेसे भी शोभित है, यथा—'**कर सरोज जयमाल सुहाई। बिश्वबिजय सोभा जेहि छाई।**' (२६४। २) इस तरह मालाकी तीन प्रकारसे शोभा दिखायी। स्वयं सुन्दर, सुन्दर करकमलोंकी शोभा पाकर सुन्दर और विश्वविजयकी शोभासे अर्थात् नामसे सुन्दर। (ख) ☞ यहाँ किसी खास वस्तु या पुष्पकी मालाका नाम नहीं लिखनेसे अपनी-अपनी रुचि-अनुसार अनुमान कर सकते हैं, भावुकोंके भावोंके लिये पूरी जगह छोड़ दी है। चाहे सुवर्णका हो, चाहे मंदारका, चाहे कमलका हो अथवा चाहे जिस चीजका हो सबका ग्रहण यहाँ हो सकनेकी काफी गुंजाइश है। जैसे नवल तनमें सुन्दर साड़ी सोह रही है, जैसे सुन्दर अङ्गोंमें सुन्दर आभूषण शोभित हैं, वैसे ही करसरोजमें जयमाल शोभित है। रुचि-अनुसार साड़ी, आभूषण और माला समझ लें। मतभेद तथा रुचिभेद होनेसे किसीका नाम न दिया गया। केवल इतना जना दिया कि जयमाल अपने नामसे, अपने रूपसे और संगसे, तीनों प्रकारसे शोभित है।

नोट—१ अ० रा० में सोनेकी जयमालाका उल्लेख है। यथा—'**सीता स्वर्णमयीं मालां गृहीत्वा दक्षिणे करे। स्मितवक्त्रा स्वर्णवर्णा सर्वाभरणभूषिता॥**'(१। ६। २९) रघुवंशमें इन्दुमतीके स्वयंवरमें दूब और महुआके पुष्पोंकी मालाका वर्णन है, यथा—'**एवं तयोक्ते तमवेक्ष्य किंचिद्विस्रंसि दूर्वाङ्कमधूकमाला।**'(६। २५) श्रीमद्भागवत स्क० ८ अ० ८ में श्रीलक्ष्मीजीके हाथोंमें (जब वे क्षीरसमुद्रसे निकलीं) श्वेत कमलोंकी मालाका उल्लेख मिलता है। यथा—'**तस्यांसदेश उशतीं नवकंजमालां माद्यन्मधुव्रतवरूथगिरोपघुष्टाम्।**'·····२४।' अर्थात् लक्ष्मीजीने भगवान्‌के गलेमें वह नवीन कमलोंकी माला पहना दी, जिसके चारों ओर झुण्ड-के-झुण्ड मतवाले भौंरे गुञ्जार कर रहे थे। केशवदासजीने श्रीसीताजीके करकमलोंमें कमलकी माला लिखी है। यथा—'***सीताजू रघुनाथके अमल कमल की जयमाल पहिराई*······'।

मतभेद देख गोस्वामीजीने किसी पुष्पका नाम नहीं दिया तो भी गुप्तरीतिसे उन्होंने इस प्रकरणमें कमलकी माला जना दी है। जैसे धनुष टूटनेपर जब श्रीसीताजी जयमाल पहनानेको चली हैं उस समय कविने कहा है '***कर सरोज जयमाल सुहाई।***' (२६४। २) वैसे ही यहाँ '***पानि सरोज सोह जयमाला***'। जैसे वहाँ '***सरोज***' दीपदेहली-न्यायसे '***कर***' और '***जयमाल***' दोनोंका विशेषण है, वैसे ही यहाँ '***सरोज***' और '***सोह***' '***पानि***' और '***जयमाला***' दोनोंके साथ हैं। '***पानि सरोज सोह***' और '***सरोज जयमाला सोह***'।

इसी तरह गीतावलीमें जयमालके सम्बन्धमें यह पद है—*'जयमाल जानकी जलज कर लई है । सुमन सुमंगल सगुन की बनाइ मंजु, मानहु मदनमाली आपु निरमई है॥ ......माल सिय पिय हिय सोहत सो भई है। मानसतें निकसि बिसाल सुतमाल पर मानहुँ मराल पाँति बैठी बनि गई है॥'* (१। ९६। १—४) इस पदमें भी सुन्दर मङ्गल शकुनसूचक फूलोंकी जयमाला कही, नाम स्पष्ट नहीं किया। हाँ, गुप्तरीतिसे यहाँ भी कमलका जयमाल जना दिया है। इस तरह कि *'जलजकर'* श्लेषार्थक है। उसका अर्थ 'कमलका' (कर=का) और 'हस्तकमल' (कर=हाथ) दोनों ले सकते हैं। जैसे लक्ष्मीजी समुद्रसे श्वेत कमलोंकी माला लिये प्रकट हुई, वैसे ही यहाँ श्वेतकमलोंकी माला है, यह *'मराल पाँति'* से जनाया; क्योंकि हंस श्वेत होते हैं। इसी प्रकार श्रीजानकीमंगलमें भी गोस्वामीजी लिखते हैं—*'लसत ललित कर कमल माल पहिरावत। काम फंद जनु चंदहि बनज फँदावत।'*...... (६८) इसमें भी *'कमल'* को देहलीदीपकन्यायसे दोनों ओर जनाया है। *'कर कमल' 'कमल माल'* ।

इस तरह गुप्तरीतिसे अपना मत उन्होंने अपने ग्रन्थोंमें प्रकट भी कर दिया है।

टिप्पणी—३ (क) **अवचट**=औचक। बिना इच्छाके देखनेको 'औचक' कहते हैं। श्रीसीताजीकी इच्छा राजाओंको देखनेकी नहीं है, उन्होंने श्रीरामजीको देखनेके लिये नजर उठायी, इस तरह अचानक ही सब राजाओंपर दृष्टि श्रीरामजीको देखनेके कारण डाली, जैसा आगे *'सीय चकित चित रामहि चाहा'* से स्पष्ट है। [किसी-किसीने राजाओंका चकित होकर सीताजीको देखना अर्थ किया है। प्राचीन टीकाकारों एवं रामायणी लोगोंने प्राय: श्रीसीताजीका राजाओंकी ओर देखना लिखा है। रा० प्र० कार भी लिखते हैं कि—**अवचट**='इच्छारहित, जैसे न देखनेवाले पदार्थपर किसी योगसे दृष्टि पड़ जाय'। यहाँ रामजीको देखनेके लिये सब राजाओंपर दृष्टि पड़ी। **अवचट** (अव=नहीं+चट=शीघ्र)=अनजान, अचक्का।]

नोट—२ बैजनाथजी लिखते हैं कि 'श्रीरामचन्द्रजी कहाँ हैं इस चाहमें श्रीसीताजीने अचानक अर्द्धदृष्टिसे नजर फेंकी, न देख पड़नेपर चित्त चकित हो चारों ओर नेत्र चंचल हुए। **अवचट**=अचानक अर्द्धदृष्टिसे, कहीं दृष्टि थँभाई नहीं। उरमें रामजीके देखनेकी चाह है, इसलिये चित्त चकित है और नेत्र चारों ओर चञ्चल हैं, यह देख सब राजा मोहवश हुए'। किसीने दूसरा अर्थ यह भी लिखा है कि 'अथवा, इस समय अद्भुतरस प्रकट हुआ, तनकी छटा बिजली-सी छूटी (दमक रही) अत: सबके नेत्र चकाचौंधसे हो गये'।

विनायकी टीकाकार लिखते हैं कि 'सब राजा अकचकाकर देखने लगे' वा, इन्होंने अनजानेमें 'सब राजाओंकी ओर देखा'। श्रीपोद्दारजी लिखते हैं कि 'सब राजा चकित होकर अचानक उनकी ओर देखने लगे। श्रीत्रिपाठीजीका भी यही मत है। वे लिखते हैं कि 'जयमालपर राजालोग दृष्टि लगाये हुए थे। जयमाल ही सीताजीके निश्चित रूपसे पहिचाननेका चिह्न था। राजाओंने एकाएक देखा, पर सीताजीने उन्हें नहीं देखा'।

सीय चकित चित रामहि चाहा। भये मोहबस सब नरनाहा॥७॥
मुनि समीप देखे दोउ भाई। लगे ललकि लोचन निधि पाई॥८॥

शब्दार्थ—चाहना=देखना। यथा—*'सुनि अवलोकि सुचित चख चाही। भगति मोरि मति स्वामि सराही॥'* (२९। ३)=चाहसे ताकना, खोजना। (श० सा०) **ललकि**=बड़ी उत्कंठा लालसा और लालचपूर्वक।

अर्थ—श्रीसीताजी चकित-चित्तसे श्रीरामजीको देखने (वा खोजने) लगीं (तब) सब राजा मोहवश हो गये ॥ ७॥ उन्होंने दोनों भाइयोंको मुनिके पास देखा। उनके नेत्र (अपनी) निधि पाकर वहीं ललककर जा लगे (स्थिर हो गये)॥ ८॥

नोट—१ पं० रामकुमारजीका अर्थ—श्रीसीताजी चकित-चित्त हैं, श्रीरामजीको चाहती हैं।

टिप्पणी—१ *'सीय चकित चित रामहि चाहा'* इति। *'चकित चित'* होनेके भाव कि—(क) सीताजी यह सुन चुकी हैं कि मुनिके साथ आये हैं—*'सुने जे मुनि सँग आए काली।'* मुनि विरक्त हैं, राजसभामें कौतुक देखने क्यों आने लगे? अतएव सीताजीको संदेह है कि कदाचित् मुनि इसे राजसमाज समझकर

यहाँ न आये हों तो राजकुमार भी उनके साथ होनेके कारण न आये होंगे। इसीसे वे चकितचित्त हैं कि आये या नहीं। रामहीकी चाहमें उनका चित्त है। (ख) श्रीरामजी कहाँ हैं? उनके 'मिलनेके' (दर्शनके) लिये सीताजी चकित देख रही हैं, यथा—'*चितवत चकित चहूँ दिसि सीता। कहँ गये नृपकिसोर मनु चिंता॥*' (२३२। १) इस चौपाईसे चारों ओर राजाओंको देखना पाया गया। यहाँ '*सीय चकित चित रामहि चाहा*' इतना मात्र कहते हैं, '*चहूँ दिसि*' देखना नहीं कहते। (भाव कि जब सब ओर देखा, राजाओंपर औचक दृष्टि पड़ी पर श्रीरामजी न देख पड़े तब चित्त चकित हो गया, क्योंकि वे तो श्रीरामजीको ही देखना चाहती हैं।)

टिप्पणी—२ (क) '*रामहि चाहा। भए मोहबस सब नरनाहा*' इति। श्रीसीताजी श्रीरामजीको चाहती हैं। जब सब राजाओंको चकितचित्त देखने लगीं—'*अवचट चितए सकल भुआला*' तब सब मोहवश हो गये। सब यही समझने लगे कि हमको ही चाहती हैं। (ख) ☞प्रथम जनकपुरवासियोंका '*मोह*' (मोहित होना) कहा, यथा—'*देखि रूप मोहे नर नारी*' और अब सब राजाओंका मोह कहते हैं। तात्पर्य कि जनकपुरवासियोंका मोह वात्सल्य लिये हुए है और राजाओंका मोह शृङ्गार लिये हुए है। दोनोंका मोह पृथक्-पृथक् प्रकारका है, इसीसे दोनोंका मोह अलग-अलग लिखा। पुनः भाव कि—(ग) पूर्व रूप देखकर नरनारियोंका मोहित होना कहा—'*रूप देखि मोहे नर नारी*' इससे जनाया कि स्त्री-पुरुष 'रूप देखकर' मोहित हो गये पर वह (वात्सल्य) मोह थोड़ी ही देर बाद न रह गया, देखते ही भरमें रहा, इससे वहाँ '*देखि*' पद दिया और यहाँ लिखा कि नरनाह '*मोहबस*' हुए, अर्थात् राजाओंके हृदयोंमें मोह बस गया, सीताजीकी प्राप्तिकी इच्छा बराबर बनी रही। (घ) '*सब नरनाहा*' इति। पूर्व कहा कि '*अवचट चितए सकल भुआला*' सबको देखा अतः 'सब' का मोहवश होना भी कहा।

नोट—२ '*अवचट चितए""भये मोहबस*' इति। सत्योपाख्यान उत्तरार्ध अ० २ में लिखा है कि जिस समय श्रीजानकीजी रंगभूमिमें लायी गयीं तब उनको देखकर कोई राजा अपने मालाकी गुरियाँ गिनने लगा, कोई तलवार खींचता, कोई मुस्कुराता है, कोई मोती निछावर करता है, कोई अपने आभूषण दिखलाता है, कोई हँसता, कोई दाढ़ी-मूछपर हाथ फेरता।""इत्यादि। श्रीजानकीजीने किसीकी ओर न देखा। यथा—'**कन्या समागता तत्र सीता नाम्नी सखीगणैः॥ ४६॥ तत्र शृङ्गारचेष्टाश्च राज्ञां जाता सहस्रशः। कश्चित् करं किरीटे च कलयामास भूपतिः॥ ४७॥ पद्मं च भ्रामयामास पाणिना च नराधिपः। ददार पद्मपत्राणि नखैः किंचित्स्मयन्निव॥ ४८॥ कश्चिद्वार्ताप्रलापे च सख्या चक्रे महामनाः। कश्चिन्मुक्तामयीं मालां गणयामास पाणिना॥ ४९॥ केनचित्कारणेनैव जहास कोऽपि भूपतिः। खड्गं कोशाद्विकृष्यैव दर्शयामास चापरान्॥ ५०॥ ताम्बूलभक्षणं कश्चिच्चकार च महामनाः। हस्तमुत्क्षिप्य वेगेन रत्नमुद्राविदीपितम्॥ ५१॥ बभाषे च सभामध्ये दर्शयन् पाणिभूषणम्। जहास कश्चिद्भूपालो दन्तान् संदर्शयन्निव॥ ५२॥ श्मश्रूणि परिमार्ज्याथ पाणिना स्वेन निर्भयः। एवं बभूव शृंगारो जनानां रंगवासिनाम्॥ ५३॥ आजगाम तदा सीता धनुषो निकटे मुदा। पूजयित्वा पिनाकं तु जगाम मातृसंनिधौ**'॥ ५४॥—ये सब भाव भी '*भये मोहबस*' में आ गये।

टिप्पणी—३ '*मुनि समीप देखे दोउ भाई*""' इति। (क) किसी रामायणमें श्रीरामलक्ष्मणजीका मुनिके आगे बैठे होना, किसीमें अगल-बगल, दहिने-बायें, आस-पास और किसीमें एक ही ओर दोनोंका बैठना लिखा है, इसीसे ग्रन्थकारने '*मुनि समीप*' कहकर सब ऋषियोंके मतोंका आदर किया, सब भावोंका ग्रहण इस पदसे हो गया। पुनः '*मुनि समीप*' कहनेसे जनाया कि जानकीजी दोनों भाइयोंको देखते ही उनके स्वरूपसे ही पहचान गयी थीं और मुनिके समीप होनेसे चिन्हारीकी अत्यन्त दृढ़ता हो गयी। क्योंकि यह सुन चुकी हैं कि मुनिके साथ आये हैं अतः उनके पास बैठे हैं। (क) '*ललकि लगे लोचन।*' श्रीसीताजीके नेत्र श्रीरामजीके दर्शनके लिये अत्यन्त उत्कण्ठित थे। (वे चकित-चित्तसे रामजीकी खोजमें थीं) इसीसे उनके नेत्र ललककर वहाँ जा लगे। ☞स्मरण रहे कि प्रथम भेंटमें (फुलवारीमें) अपनी निधिको पहचानना लिखा गया है—'*देखि रूप लोचन ललचानें। हरषे जनु निज निधि पहिचानें॥*' (२३२। ४) और यहाँ उस '*निधि*' का पाना कहते हैं। कारण कि पहचानना तो प्रथम ही बार होता है, इससे फुलवारीमें

प्रथम मुलाकातमें पहचानना लिखा गया। उस समयसे इस समयतक एक दिन-रातका अन्तर पड़ा। फुलवारीमें भी सबेरे ही भेंट हुई और आज यहाँ रंगभूमिमें भी सबेरे ही दर्शन हुए। इतना बीच पड़नेसे *'निधि'* का हाथसे छूटना निश्चित हुआ। वह निधि इतनी देरके लिये हाथसे चली गयी थी; इसीसे यहाँ निधिका 'पाना' कहा। [पुष्पवाटिकामें *'निज निधि'* कहा था और यहाँ केवल *'निधि'*। कारण कि पुष्पवाटिका-प्रसङ्गमें बहुत वर्षोंके बाद प्रथम दर्शन मिले थे, इसीसे वहाँ *'निज निधि'* का पहचानना कहा था और यहाँ तो आठ-नौ पहरके पीछे फिर दर्शन हो गया, अत: *'निधि'* ही कहा। (प्र० सं०) (ग) *'लगे'*—भाव कि राजाओंको *'अवचट चितए'* पर लोचन उनपर लगे (ठहरे) नहीं, देखते ही वहाँसे हट गये। (घ) बिना वाचक पदके 'गम्य उक्तविषया-वस्तूत्प्रेक्षा अलंकार' है। (वीर)]

प० प० प्र०—(क) *'अवचट चितए सकल भुआला। सीय चकित चित रामहि चाहा॥'* यह सीताजीकी दशा हुई जब वे रङ्गभूमिमें आयीं, पर श्रीरामजी जब रङ्गभूमिमें आये तब उनके नेत्र सीताजीकी खोजमें इधर-उधर नहीं दौड़े। (ख) चन्द्रोदयके समय जो दशा रघुवीरके मनकी थी वह रङ्गभूमिमें आनेपर नहीं रह गयी। ऐसा जान पड़ता है कि मानो वे इस शृङ्गाररसको परिपूर्णतया भूल गये हैं, इस विषयमें पूर्ण उदासीन हैं, निश्चिन्त होकर गुरुजीके पास बैठे हैं। अब कहिये कामदेवकी विजय हुई या रघुवीरकी? चन्द्रोदयके समय तो एक नरलीला करके बतायी। (ग) श्रीसीताजीको प्रथम राजा लोग क्यों देख पड़े, यह निम्न नकशेसे स्पष्ट हो जायगा।
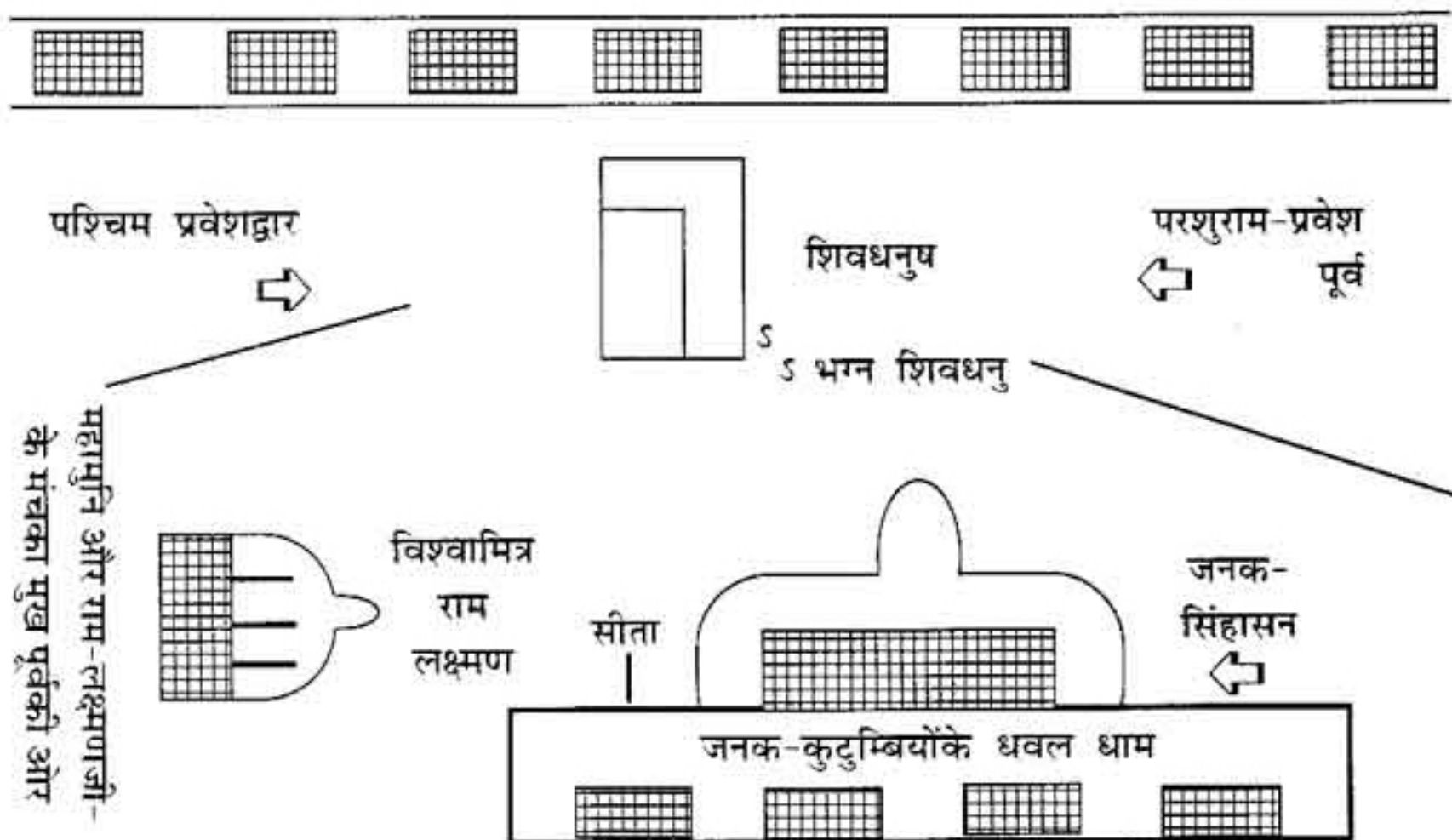
नोट—१ पाठक देखेंगे कि श्रीसीताजीके नर-नाट्यका आदिसे अन्ततक रामायणमें जैसा निर्वाह हुआ है वैसा श्रीरामजीका नहीं। श्रीरामजीका ऐश्वर्य अनेक स्थलोंमें प्रकट हो गया है। २ स्वयंवरमें प्रायः कन्या जयमाला लेकर सबके पीछे ही आती है। पातिव्रत्यका कैसा सुन्दर निर्वाह यहींसे देख चलिये।

दो०—गुरजन लाज समाजु बड़ देखि सीय सकुचानि।
लागि बिलोकन सखिन्ह तन रघुबीरहि उर आनि॥ २४८॥

अर्थ—गुरुजनों (माता, पिता, आचार्य आदि बड़े लोगों) की लज्जासे और बड़ा समाज देखकर श्रीसीताजी सकुचा गयीं (अर्थात् गुरुजनों और समाजकी लज्जा लगी कि लोग क्या कहेंगे)। रघुकुलवीर श्रीरामजीको हृदयमें लाकर सखियोंकी ओर देखने लगीं॥ २४८॥

टिप्पणी—१ (क) ☞ जब श्रीसीताजीने फुलवारीमें सखियोंके साथ श्रीरामजीको देखा तब एक तो वहाँ अपनी सखियाँ ही साथमें थीं, दूसरे एकान्त था, यह समझकर विशेष लज्जा न हुई थी। इसीसे वहाँ वे देरतक देखती रहीं। यथा—'*थके नयन रघुपति छबि देखें। पलकन्हिहूँ परिहरीं निमेषें॥ अधिक सनेह देह भै भोरी। सरद ससिहि जनु चितव चकोरी।*' (२३२। ५-६) और यहाँ गुरुजन बैठे हैं और समाज बहुत बड़ा है, इससे नेत्र ललचाकर जा तो लगे पर देरतक वहाँ न ठहर सके। अतएव यहाँ नेत्रोंका 'थकना' और चकोरीकी तरह देखना नहीं लिखा। (ख) '*गुरजन लाज*' अर्थात् बड़ोंकी लाज करनी चाहिये, अतः उनकी लाज की। इस कथनसे पाया जाता कि औरोंकी लाज नहीं है, इसीपर कहते हैं कि '*समाजु बड़ देखि सीय सकुचानि।*' समाजमें छोटे-बड़े सभी हैं, सभीका संकोच हुआ। संकोचका स्वरूप उत्तरार्धमें दिखाते हैं। यहाँ दो प्रकारसे संकोच दिखाया—श्रीरामजीको देखकर गुरुजन-समाजका संकोच हुआ, दूसरे गुरुजन-समाजको देखकर संकोच हुआ। (ग) **तन**=ओर, तरफ, यथा—'*होइ बुद्धि जौं परम सयानी। तिन्ह तन चितव न अनहित जानी॥*' (घ) '*रघुबीरहि उर आनि*' इति। प्रथम कहा कि '*मुनि समीप देखे दोउ भाई। लगे ललकि लोचन निधि पाई॥*' इससे पाया जाता है कि दोनों भाइयोंको देख रही हैं, इसीसे '*रघुबीरहि उर आनि*' कहकर उसका ब्योरा करते हैं। [पाँड़ेजी लिखते हैं कि 'यहाँ '*सीय*' और '*रघुबीर*' नाम अर्थानुकूल हैं। सीताको शीतलता हुई और रघुबीर इससे कहा कि अब वीरता प्रकट करनेका समय है। (नोट—इस समय देखकर उनको श्रीरामजीकी वीरता तथा उनका प्रभाव स्मरण आ गया। वीर मूर्तिको हृदयमें धारण किया।)] (ङ) '*उर आनि*' का भाव कि बाहरसे वियोग हुआ, वियोग नहीं सह सकतीं इससे भीतरसे संयोग किया। [पूर्व फुलवारीमें भी कहा था '*चली राखि उर स्यामल मूरति*' वैसे ही यहाँ भी '*रघुबीरहि उर आनि*' कहा। भाव कि श्रीसीताजी हृदय-भीतिपर चित्र नहीं खींचतीं, ये सीधे-सीधे मूर्तिको ही हृदयमें रख लेती हैं। '*लागि बिलोकन सखिन्ह तन*'— भाव कि हृदयमें मूर्तिको रखकर नेत्रकपाट बंद करने चाहिये थे, पर संकोचके कारण ऐसा न कर सकीं, अतः सखियोंकी ओर देखने लगीं। (वि० त्रि०) 'चतुराईसे सखियोंकी ओर देखनेमें 'अवहित्थ-संचारी भाव' है—(वीर)]

रामरूपु अरु सिय छबि देखें। नर नारिन्ह परिहरीं निमेषें॥ १॥

अर्थ—श्रीरामचन्द्रजीका रूप और श्रीसीताजीकी छबि देखकर स्त्री-पुरुषोंने पलक मारना छोड़ दिया॥ १॥

☞ '*रूपु*' और '*छबि*' इति। लाला भगवानदीनजी कहते हैं कि 'रूपमें आकृति, रङ्ग, वस्त्र, आभूषण सब आ जाते हैं, जिससे उस वस्तु या व्यक्तिकी पहिचान होती है। छबिमें केवल सौन्दर्य, कान्ति और चमक-दमकका भाव ही मुख्य माना जाता है। रूपके उपासकको उपास्यके प्रत्येक अङ्ग वा एक-एक रोमका भी ज्ञान हो सकता है और देखनेका अधिकार है। परंतु छबिके उपासकको केवल रूपकी छटा और दमक ही दृष्टिमें आती है और कुछ नहीं और वस्तुकी ओर उसका ध्यान ही नहीं जा सकता और न इसका अधिकार है। सीताजीके लिये '*छबि*' शब्द देकर गोस्वामीजीने विदेह-राजकुमारीकी मर्यादा बड़ी

सुन्दर रीतिसे निबाही है।'

श्रीराजारामशरणजी लिखते हैं कि 'कलाका कमाल यह है कि यह सूक्ष्म अन्तर भी निबह गया, जो महाकाव्यकलाका गुण है और नाटकीय कलामें सुन्दरताके दोनों अंश बताकर ***'मोहे नर नारी'*** का कारण साधारण शृङ्गारके माधुर्यमें भी निभा दिया।'

टिप्पणी—१ प्रथम रामरूप वर्णन किया पीछे श्रीसीताजीकी छबि कही; उसी रीतिसे यहाँ दोनोंको एकत्र करते हैं—***'रामरूपु अरु सिय छबि देखें।'*** रामरूपका सम्बन्ध ***'देखि लोग सब भए सुखारे। एकटक लोचन चलत न तारे॥'*** यहाँसे है और सिय-छबिका सम्बन्ध ***'रंगभूमि जब सिय पगु धारी। देखि रूप मोहे नर नारी॥'*** से है। जहाँसे नरनारियोंके देखनेका प्रसङ्ग छोड़ा था वहींसे फिर कहते हैं। जब रामजी आये तब उनको देखकर सब एकटक देखते रह गये और जब जानकीजी आयीं तब इनको सब एकटक देखने लगे। २—'दोनोंको एक ही साथ एकटक चितवते रहना नहीं बनता, क्योंकि श्रीरामजी तो मंचपर हैं और श्रीसीताजी रंगभूमिमें हैं, दोनों एक जगह नहीं हैं तब यह कैसे कहा कि ***'रामरूपु अरु सिय छबि देखें।'''''' ?'*** इसका समाधान यह है कि इस अर्धालीका भाव यह है कि जो स्त्री-पुरुष रामरूप देख रहे हैं वे रामरूपको एकटक देख रहे हैं और जो सीताजीको देखते हैं वे सीताजीहीकी छबिपर एकटक दृष्टि जमाये हुए हैं। अथवा रामजीको देखकर तब सीताजीको देखते हैं और सीताजीको देखकर तब रामजीको देखते हैं, दोनोंको बिना पलक मारे ही देखते हैं।

वि० त्रि०—भाव कि 'एक बार तो सब मोह गये, अब सावधान होकर रामजीके रूप और सीताजीकी छबिका मिलान करते हैं। परोक्षमें भी मिलान किया था, यथा—***'जोग जानकी यह बरु अहई';*** अब दोनों मूर्तियाँ सामने पाकर मिलान करते हैं। इसलिये ***'एकटक लोचन चलत न तारे'*** की दशा उपस्थित है।'

सोचहिं सकल कहत सकुचाहीं। बिधि सन बिनय करहिं मन माहीं॥ २॥
हरु बिधि बेगि जनक जड़ताई। मति हमारि असि देहि सुहाई॥ ३॥

अर्थ—सभी मनमें सोचते हैं पर कहते सकुचाते हैं। मन-ही-मन विधातासे विनती कर रहे हैं॥ २॥ 'हे विधि! जनकजीकी मूर्खताको शीघ्र हर लीजिये और हमारी-ऐसी सुन्दर बुद्धि उनको दीजिये॥ ३॥

टिप्पणी—१ (क) ***'सोचहिं सकल।'*** भाव कि कुछ करतूत (कर्तव्य) करते नहीं बनती। यह सबके मन, वचन और कर्मका हाल कहते हैं। मनमें ***'बिधि सन बिनय करहिं',*** वचनसे ***'कहत सकुचाहीं'*** और ***'सोचहिं'*** यह कर्म है। रामरूप और सिय-छबि देखकर सबके सोचनेका भाव कि सबकी समझमें दोनों एक-दूसरेके योग्य हैं, रामरूप और सीताछबि-सदृश हैं, श्रीरामजी श्रीसीताजीके वर होने योग्य हैं; पर रामजी बड़े सुकुमार हैं, उनसे धनुष टूटना कठिन है—यह समझकर सोचमें हैं। (ख) ***'कहत सकुचाहीं'*** क्योंकि राजाको प्रकट जड़ कैसे कहें। प्रकट कहनेमें सकुचते हैं, इसीसे ***'बिनय करहिं मन माहीं।'*** (ग) ***'बिधि'*** से विनय करते हैं; क्योंकि संयोग करानेवाले विधि ही हैं, यथा—***'तुम्ह सम पुरुष न मो सम नारी। यह सँजोग बिधि रचा बिचारी॥'*** (३। १७) ***'जेहि बिरंचि रचि सीय सँवारी। तेहि स्यामल बर रचेउ बिचारी॥'*** (२२३। ७) ***'औ बिधि बस अस बनै सँजोगू।'*** (२२२। ७) इत्यादि। [(घ) ***'बिधि'*** का भाव कि 'जनक ***'अबिधि'*** कर रहे हैं, सो आप कैसे करने देते हैं' भाव कि आप बुद्धिके संचालनमें समर्थ हैं, जिसकी बुद्धि चाहें पलट सकते हैं, तब आप जनकमहाराजकी बुद्धि पलट दें। (पाँड़ेजी) पुनः, बिधि=विधानकर्ता।]

टिप्पणी—२ ***'हरु बिधि बेगि जनक जड़ताई।''''''*** इति। (क) ***'बेगि'*** का भाव कि अभी प्रतिज्ञा सुनायी नहीं गयी है, सुना दी जायगी तब कुछ बस न चलेगा। वा धनुष टूटनेके पश्चात् ऐसी बुद्धि देनेका कुछ प्रयोजन नहीं (क्योंकि जब किसी औरने धनुष तोड़ ही डाला तब तो सीताजी उसीको मिलेंगी, तब कहनेसे क्या लाभ होगा)। वा आज ही प्रतिज्ञाकी अवधिका अन्तिम दिन है, आज ही समय है, फिर यह समय न रह जायगा। (पाँड़ेजी) (ख) ***'जनक जड़ताई'*** इति। बिना हानि-लाभ सोचे-समझे

प्रतिज्ञा करना जड़ता है, इस प्रणमें हानि-लाभ कुछ भी नहीं, यथा—*'अहह तात दारुन हठ ठानी। समुझत नहिं कछु लाभ न हानी॥'* (ग) *'मति हमारि असि देहि सुहाई'* कहकर जनाया कि जनककी मति *'असुहाई'* है, जड़ता धारण किये हुए है। जनककी जड़ता और अपनी *'सुहाई मति'* आगे बताते हैं।

बिनु बिचार पनु तजि नरनाहू। सीय राम कर करै बिबाहू॥ ४॥
जगु भल कहिहि भाव सब काहू। हठ कीन्हे अंतहु उर दाहू॥ ५॥
येहि लालसाँ मगन सबु लोगू। बरु साँवरो जानकी जोगू॥ ६॥

अर्थ—बिना विचारे ही प्रतिज्ञा छोड़कर राजा सीताजीका विवाह रामजीसे कर दें॥ ४॥ संसार उन्हें भला कहेगा और सब किसीको यह बात भा रही है। हठ करनेसे अन्तमें भी (आखिर) छाती जलेगी (हृदयमें संताप होगा)॥ ५॥ सब लोग इसी लालसामें मग्न हैं कि जानकीके योग्य वर तो यही साँवला (कुमार) है॥ ६॥

टिप्पणी—१ (क) *'बिनु बिचार'* का भाव कि राजा विचारशील हैं, वे विचार करनेपर प्रणका त्याग न कर सकेंगे। *'सुकृत जाइ जौं पन परिहरऊँ।'* (२५२। ५) यह विचार है। अर्थात् प्रतिज्ञा भंग करनेसे सुकृत नष्ट हो जायँगे। जानकीमङ्गलमें भी कहा है कि *'नृप न सोह बिनु बचन नाक बिनु भूषन।'* (४१) अर्थात् वचनका धनी न होनेसे—वचन जानेसे राजा वैसे ही अशोभित हो जाता है जैसे नाक बिना भूषणके। अतएव विधिसे प्रार्थना करते हैं कि वे विचार न करें। (भाव कि यहाँ विचारकी कोई बात ही नहीं है, सीता और रामका ब्याह होना ही चाहिये। वि० त्रि०) (ख) पुनः, *'तजि नरनाहू'* कहकर जनाया कि प्रतिज्ञाका ग्रहण किये रहना ही जनककी जड़ता है। *'नरनाहू'* का भाव कि राजा लोग स्वार्थके आगे सब त्याग कर देते हैं, अर्थसिद्धि जिस प्रकार भी हो उसे ही मुख्य मानते हैं। [पाँड़ेजी कहते हैं कि राजाओंका धर्म है कि अर्थपर दृष्टि रखें, अतः *'नरनाहू'* कहा। पुनः, भाव कि नरनाहका धर्म है कि नरोंका पालन करें, प्रजाकी रुचि रखें, प्रण बिना विचारे किया है उसके छोड़नेसे नरों (प्रजा) का पालन होगा, सिय-रामका विवाह होगा, सारी प्रजाको सुख होगा। राजाओंको अपना लाभ देखना चाहिये। योग्य वर मिलता है यह लाभ है। पर ये यह लाभ विचारते नहीं, अतः मनाते हैं कि उनको बुद्धि दें कि यह लाभ देखें।] (ग) *'सीय राम कर करै बिबाहू।'* भाव कि श्रीरामजी सीताजीके ब्याहने योग्य हैं, सीताजीके सदृश उनका रूप है, वे प्रणके योग्य नहीं हैं, यथा—*'कहँ धनु कुलिसहु चाहि कठोरा। कहँ स्यामल मृदुगात किसोरा॥'* पनके योग्य नहीं हैं। अतः *'पन तजि करै बिबाहू।'* यह *'सुहाई मति'* है। सुहाई मतिका अर्थ यहाँ खोला।

टिप्पणी—२ *'जगु भल कहिहि भाव सब काहू।'''''''* इति। (क) भाव कि प्रण छोड़ देनेसे जगत् भला कहेगा और न छोड़नेसे जगत् भी भला न कहेगा, अपयश होगा और अन्तमें हृदयमें संताप होगा। इस तरह इतनेमें ही अपनी मतिका गुण और जनककी मूढ़ताका दोष कह दिया। (ख) पुनः भाव कि यदि कोई कहे कि प्रण छोड़नेसे अपयश होगा, यथा—*'अब करि पैज पंच महँ जो पन त्यागै। बिधि गति जानि न जाइ अजसु जग जागै॥'* (जा० मं० ४३) तो उसपर कहते हैं कि अपयश न होगा वरंच अच्छा ही होगा, क्योंकि यह बात सभीको प्रिय लग रही है, कोई भी ऐसा नहीं है जिसे यह बात अप्रिय लगती हो। और यदि हठ करेंगे तो अन्तमें भी दुःख मिलेगा, यथा—*'जौं हठ करहु प्रेमबस बामा। तौ तुम्ह दुख पाउब परिनामा॥'* (२। ६२) *'हठ बस सब संकट सहे गालव नहुष नरेस।'* (२। ६१) (ग) *'अंतहु'* का भाव कि हठहीके कारण अभी दाह है पर अभी तो इतना ही पश्चात्ताप है कि पहले इनको देखा न था नहीं तो ऐसा प्रण न करते, यथा—*'ए जाने बिनु जनक जानियत करि पन भूप हँकारे। नतरु सुधासागर परिहरि कत कूप खनावत खारे।'* (गी० १। ६६) और अन्तमें जब कन्या कुँआरी रह जायगी तब भी दाह बना रहेगा। अथवा, यदि किसी अयोग्य पुरुषसे धनुष टूटा तो अन्तमें यह संताप होगा कि हमने क्यों यह प्रण किया, न करते तो अच्छा होता; इससे अभी प्रण छोड़ देना अच्छा है। श्रीजनकजी भी

यह जानते हैं कि रामजी जानकीजीके योग्य हैं, रही बात यह कि प्रण किये हैं, प्रण त्याग नहीं करते; इसीसे उनका हठ करना निश्चित करते हैं।

टिप्पणी—३ *'येहि लालसा मगन सब लोगू।'''''''* इति। (क) उपक्रममें *'सोच'* कहा और उपसंहारमें *'लालसा'* कहते हैं, इससे पाया गया कि यहाँ सोच और लालसा दोनों हैं—राजाके हठका सोच है, प्रण छोड़कर ब्याह कर दें यह लालसा है, सबको सोच है और सबको लालसा है, इसीसे दोनों जगह सबको कहा—*'सोचहिं सकल''''''', 'मगन सब लोगू।'* (*'मगन सब लोगू'* से जनाया कि इस अभिलाषामात्रसे उन्हें अत्यन्त आनन्दानुभव हो रहा है। नगरदर्शनके समय जो सखी-समाजमें निर्णय हुआ था—*'जोग जानकी यह बरु अहई'* वही निर्णय यहाँ सब लोगोंका हुआ कि *'बर साँवरो जानकी जोगू।'* वि० त्रि०)

नोट—*'येहि लालसा मगन सब लोगू'''''* इति। गीतावली और जानकीमङ्गलमें पुरवासियोंकी लालसा इसी प्रकार कुछ भेदसे दिखायी गयी है। पर चाहते सब यही हैं कि श्रीरामजीके साथ श्रीजानकीजीका विवाह हो। यथा—*'भूपभवन घर घर पुर बाहर इहै चरचा रही छाइ कै। मगन मनोरथ मोद नारि नर प्रेम बिबस उठैं गाइ कै॥ २॥ सोचत बिधि गति समुझि परस्पर कहत बचन बिलखाइ कै। कुँवर किसोर कठोर सरासन असमंजस भयो आइ कै। सुकृत सँभारि मनाइ पितर सुर सीस ईस पद नाइ कै। रघुबर कर धनुभंग चहत सब अपनो सो हितु चितु लाइ कै॥'* (गी० १। ७०) *'पुर नर नारि निहारहिं रघुकुलदीपहिं। दोसु नेहबस देहिं बिदेह महीपहिं।''''''*'(जा० मं० ४१)

श्रीराजारामशरणजी—सामाजिक मनोवैज्ञानिक उपन्यास कलाका कितना सुन्दर उदाहरण है। साधारण जनताका कितना ठीक चित्रण! वहाँ बस एक लालसाकी मग्नता है। *'बरु साँवरो जानकी जोगू'* फिर 'बिचार' (विवेक) 'पन' (सत्य) ही 'जड़ता' और 'हठ' रूप दिखते हैं। आह कौन सोचता है कि यह 'नरनाह' की मर्यादाके विरुद्ध होगा! वहाँ तो विधातासे कहते हैं कि जल्दी ('बेगि') ही सब विधान ही पलट दीजिये। साधारण लोगोंमें सब्र कहाँ? वहाँ तो कसौटी है सर्वसाधारणका 'कहना' (विवेकी पुरुषोंका नहीं। उनका विचार ही वहाँतक नहीं जाता, उनके जगमें वे हैं ही नहीं), उन्हींका 'भाव' (अच्छा लगना) अपना और 'दु:ख' (दाह)।

तब बंदीजन जनक बोलाए। बिरिदावली कहत चलि आए॥ ७॥
कह नृपु जाइ कहहु पन मोरा। चले भाट हिय हरषु न थोरा॥ ८॥

शब्दार्थ—**बिरिदावली** (विरुदावलि)=गुण, प्रताप, यश, पराक्रम आदिका सविस्तार वर्णन। वंशावलीका यश-वर्णन।

अर्थ—(जब श्रीसीताजी रङ्गभूमिमें आयीं) तब जनकमहाराजने भाटोंको बुलाया। वे निमिवंशकी विरुदावली कहते हुए चले आये॥ ७॥ राजाने उनसे कहा कि हमारा प्रण (सब राजाओंसे) जाकर कह दो। (आज्ञा सुनकर) भाट चले, उनके हृदयमें कुछ थोड़ा हर्ष नहीं है अर्थात् बहुत हर्ष है॥ ८॥

श्रीराजारामशरणजी—*'तब'* शब्दने नाटकीय कलावाले विरोधानन्दको कितना उभार दिया है! Dramatic Irony ! इस घोषणाका कटु प्रभाव जो जनतापर पड़ा होगा वह विचारणीय है।मगर मर्यादा यह है कि हुल्लड़ नहीं मचा।

टिप्पणी—१ *'तब बंदीजन जनक बोलाए।'* इति। (क) *'जब' 'तब'* का सम्बन्ध है। इस अर्धालीका सम्बन्ध पूर्व *'रंगभूमि जब सिय पगु धारी॥'* (२४८। ४) से है। प्रसङ्ग छोड़कर बीचमें सब लोगोंका हाल वर्णन करने लगे थे, अब यहाँ उस प्रसङ्गको फिर मिलाते हैं। (ख) *'बंदीजन'* बहुवचन है। बहुत-से बंदियोंको बुलाया क्योंकि समाज बहुत बड़ा है, एकसे यह कार्य न होता। अथवा, बहुत विलम्ब होता। बंदीजन कौन हैं, वे क्या काम करते हैं, यहाँ यह भी बताते हैं। वे वंशका विरद कहते हैं अर्थात् वंशकी प्रशंसा करते हैं, यथा—*'बंस प्रसंसक बिरिद सुनावहिं॥'* (३१६। ६) वे वंशके गुण गाते

हैं, यथा—'......चातक बंदी गुनगन बरना।' (३। ३८) 'बंदी बेद पुरानगन कहहिं बिमल गुनग्राम॥' (२। १०५) [निर्मल बुद्धिवाले और प्रस्तावके अनुकूल बोलनेवाले बंदी कहलाते थे—'वन्दिनस्त्वमलप्रज्ञाः प्रस्तावसदृशोक्तयः।' (वि० त्रि०)] (ग) 'बोलाए' और 'कहत चलि आए' से पाया गया कि वे दूर थे, अपनी जगहसे ही विरुदावली कहते चले आकर राजा जनकके पास पहुँचे; रङ्गभूमि बहुत भारी है। पुनः,'बोलाए' से यह भी सूचित होता है कि वे सब इस समय 'रामरूप और सिय-छबिके दर्शनमें मग्न थे, इससे उन्हें बुलवाना पड़ा, नहीं तो वे तो अपनेहीसे बिना बुलाये ही आया करते हैं। (घ) 'बिरिदावली कहत चलि आए' क्योंकि यह उसीका समय है। विरुदावलीसे लोगोंको ज्ञात हो जायगा कि श्रीजानकीजी ऐसे वंशकी कन्या हैं, इससे धनुष तोड़नेमें उत्साह होगा।-,

टिप्पणी—२ 'कह नृप जाइ कहहु पन मोरा.......।' इति (क) 'जाइ' से जनाया कि जहाँ जनक-महाराज हैं वहाँसे वह स्थान दूर है, जहाँ राजा लोग बैठे हैं। रङ्गभूमिका विस्तार भारी है, यथा—'अति बिस्तार चारु गच ढारी।' (ख) 'कहहु पन मोरा।' भाव कि प्रण सुनकर राजा आये हैं, यथा—'दीप दीप के भूपति नाना। आए सुनि हम जो पन ठाना॥' अब पन सुनकर धनुष तोड़नेको उठेंगे, यथा—'सुनि पन सकल भूप अभिलाषे। भटमानी अतिसय मन माषे॥ परिकर बाँधि उठे अकुलाई। चले इष्टदेवन्ह सिरु नाई॥' [पाँड़ेजीका मत है कि 'सब राजा शोभा देखनेमें धनुषयज्ञका प्रयोजन भूल गये थे, उनको जतानेके लिये जिस लिये आये हैं उस कार्यमें लगानेके लिये भाटोंसे पन कहनेको कहा।' (यह समाजका कायदा है कि सबके जुटनेपर मन्त्री आदि सबको सभाका कार्य बताते हैं तब काम प्रारम्भ होता है।)] (ग) 'चले भाट।' राजाने कहा कि 'जाइ कहहु' इसीसे उनका चलना कहा। 'भाट' कहकर 'बंदीजन' का अर्थ स्पष्ट कर दिया। (घ) 'हरष न थोरा।' बहुत हर्षका कारण कि नीतिमें लिखा है कि राजाकी आज्ञा-प्रतिपालन हर्षपूर्वक करे। विशेष हर्षसे जनाया कि राजामें इनकी बहुत भक्ति है, इसीसे उनकी आज्ञा-पालन करनेमें अत्यन्त हर्ष है। [वा, हर्ष है क्योंकि स्वामीने अपने मुखसे यह सेवा फरमायी है, अपनेको कृतार्थ माना। वा, ऐसे बड़े समाजसे आज हमें स्वामीकी प्रतिज्ञा बड़े सुन्दर पदोंमें कहनेका सौभाग्य प्राप्त हुआ है। अथवा, उनको शकुन हो रहा है कि उनकी लालसा पूरी होगी, श्रीरामजी धनुष तोड़ेंगे। अतः हर्ष बहुत है। (पं०) ऐसे महोत्सवके समयमें अपनेको यह बड़ा अधिकार मिला यह समझकर हर्षित हैं। (वै०) पाँड़ेजी कहते हैं कि 'हरष न थोरा' का 'थोड़ा भी हर्ष न हुआ' यह अर्थ यहाँ प्रसङ्गानुकूल है, क्योंकि सबका मनोरथ यही था कि 'बरु साँवरो जानकी जोगू' और सब यही माँगते थे कि 'पन परिहरि हठि करइ बिबाहू।' उन्हींमें ये भाट भी हैं। 'न थोरा' इस श्लिष्टपदद्वारा यह गुप्त अर्थ खोलना 'विवृतोक्ति अलङ्कार' है। प्र० स्वामी पाँड़ेजीके अर्थसे सहमत हैं कि 'यही समयानुकूल अर्थ है, आगे 'विदेह' शब्द भी इसी भावसे प्रयुक्त हुआ है'] (ङ) 'जाइ कहहु......' से पाया गया कि राजा जानते हैं कि बंदीगणोंको मालूम है कि क्या कहना है। इसीसे उन्होंने विस्तारसे नहीं कहा। (अथवा, आगे विस्तारसे कहना है, इससे यहाँ कविने इतना ही कहा।)

दो०—बोले बंदी बचन बर सुनहु सकल महिपाल।
पन बिदेह कर कहहिं हम भुजा उठाइ बिसाल॥२४९॥

अर्थ—बंदीजन (ये) सुन्दर श्रेष्ठ वचन बोले—हे समस्त पृथ्वीपतियो! (हमारे श्रेष्ठ वचन) सुनिये। हम विदेहराजका विशाल प्रण भुजा उठाकर कहते हैं॥ २४९॥

टिप्पणी—१ (क) 'बचन बर' से सूचित किया कि हमारे वचन वाणीके अठारहों दोषोंसे रहित हैं।* [वचन बड़ी चतुरतासे कहे गये हैं। पुनः मधुर, कठोरतारहित, राजाओंका उत्साह बढ़ानेवाले, धनुषभङ्गके

* वाणीके १६ दोष ये हैं—शब्दहीन, क्रमभ्रष्ट, विसंधि, पुनरुक्तिमत, व्याकीर्ण, वाक्यसंकीर्ण, अपद, वाक्यगर्भित, भिन्नलिंग, भिन्नवचन, न्यूनोपम, अधिकोपम, भग्नछन्द, भग्नयति, अशरीर और अरीतिमत। विशेष व्याख्या और प्रमाण

लिये उत्तेजित करनेवाले, प्रिय इत्यादि गुणयुक्त होनेसे *'बर'* कहा। वि० त्रि० का मत है कि महाराज विदेहके वचनका अनुवाद होनेसे *'बचन बर'* कहा। (ख) *'सुनहु सकल महिपाल'* कहनेका भाव कि यह प्रतिज्ञा राजाओंके लिये है, अन्यके लिये नहीं। पुनः, *'महिपाल'* सम्बोधनका भाव कि आप लोग वचनके गौरवको समझते हैं। [*'पन बिदेह कर'* में लक्षणामूलक गूढ़ व्यंग है कि 'कोई देहधारी मनुष्य ऐसी प्रतिज्ञा न करेगा। पाँड़ेजीका मत है कि भाटोंको यह पन अच्छा न लगा, इसीसे वे कहते हैं कि *'देही'* ऐसा पन कभी नहीं करते। पुनः देहाध्यासरहितका यह पन है, इसके सुननेसे सबको पीड़ा होगी, यह सबको विदेह करनेवाला पन है।' प्र० स्वामी पाँड़ेजीसे सहमत होते हुए लिखते हैं कि 'भाटोंकी इच्छा तो सब लोगोंकी इच्छासे विदित हो गयी कि *'बिनु बिचार पनु तजि नरनाहू। सीय राम कर करै बिबाहू॥'* पर वे सेवक हैं, जब प्रणको पुकारकर कहनेकी आज्ञा हो गयी तब अनिच्छासे सेवकका कर्तव्य समझकर ही कहते हैं। *'बिदेह पन'* में भाव यह है कि इन्हें तो अपनी देहपर भी ममता नहीं है, ये सुख-दुःखातीत हैं, तब इन्हें दूसरोंके सुख-दुःखका विचार कब होने लगा। वे अपना हठ न छोड़ेंगे। पाँड़ेजीका मत यथार्थ है। मानसमें *'बिदेह'* शब्द व्यंग्यार्थमें अन्यत्र भी प्रयुक्त हुआ है। यथा *'कहहु बिदेह कवनि बिधि जाने।'* (२९१। ८)*'बेगि बिदेह नगर नियराया।'* (२१२। ४) *'कहहु बिदेह भूप कुसलाता।'* (२। २७०। ६) पुनः भाव कि 'अज्ञानीके प्रण मिट भी जाते हैं और विदेह ज्ञानी हैं। ज्ञानीका पन ज्ञान-विचारपूर्वक होता है, वह टल नहीं सकता।' (पं०) यथा—*'बज्ररेख गजदसन जनक-पन बेद-बिदित, जग जान।'* (गी० १। ८९) पुनः *'पन बिदेह……'* का भाव कि प्रण विदेहका है, हम केवल अनुवादक हैं। (वि० त्रि०)]

टिप्पणी—२ पन विशाल है अर्थात् दारुण है, यथा—*'अहह तात दारुन हठ ठानी।'* पुनः भाव कि जिसमें भारीपन सुनकर सब राजा न उठें, भीड़ न होवे, जो भारी पराक्रमी हैं वे ही उठें। पुनः विशाल कहा जिसमें अपना अपमान समझ क्रोधकर तोड़नेके लिये सब उठें, यथा—*'सुनि पन सकल भूप अभिलाषे। भट मानी अतिसय मन माषे॥'* पनकी विशालता आगे कहते हैं—*'नृप भुजबल बिधु शिवधनु राहू। गरुअ कठोर बिदित सब काहू॥'* इत्यादि। [विशाल देहलीदीपकन्यायसे पन और भुजा दोनोंमें लगता है। पन विशाल है अर्थात् इसमें लाभ बड़ा भारी है—*'कुँअरि मनोहर बिजय बड़ि कीरति अति कमनीय॥* २५१…… *कहहु काहि यहु लाभ न भावा॥'* पुनः पन विशाल है अर्थात् सामान्य नहीं है और न छूटनेवाला है। वज्ररेख-समान अमिट, गजके दाँतोंके समान फिर मुखमें नहीं जानेवाला है, यथा—*'सुनो भैया भूप सकल दै कान। बज्ररेख गजदसन जनक-पन बेद-बिदित, जग जान।'* (गी० १। ८९) भुजा विशाल उठाकर अर्थात् 'भुजा ऊँची उठायी। यह तीन कारणोंसे—स्वामीकी उत्कृष्टता, अपनी बुद्धिकी बड़ाई और वचनकी अति स्पष्टताके लिये।'—(पंजाबीजी) दूसरा भाव यह भी कहते हैं कि 'ऐसा कहकर गुप्त रीतिसे यह भी जनाते हैं कि भारी लाभ समझकर सभी राजा घबड़ाकर न उठ खड़े हों, जो अच्छा वीर हो, विशालभुज हो वही उठे।']

टिप्पणी—३*'भुजा उठाइ।'* भुजा उठाकर प्रतिज्ञा करनेकी रीति है, यथा—*'सत्य कहौं दोउ भुजा उठाई।'* (१६५। ५)*'भुजा उठाइ कहौं पन रोपी।'* (१। २९९) *'निसिचरहीन करउँ महि भुज उठाइ पन कीन्ह।'* (३। ९) इत्यादि। [पुनः हाथ उठानेका भाव कि जिसमें सब लोग सावधान होकर सुन लें, सबका चित्त इस ओर आकर्षित हो जाय।]

नोट—१ गीतावलीमें बंदीजनकी वाणीमें बहुत-सी बातें कही गयी हैं, यथा—*'हानि लाहु अनख उछाहु बाहुबल कहि, बंदि बोले बिरद अकस उपजाइ कै। दीप दीपके महीप आये पैज पनु, कीजै पुरुषारथ को औसर भो आइ कै।'* (१। ८४। ७) इसमें *'बिसाल पन' 'बचन बर'* के भाव आ गये। २—बंदीगणके मन, वचन, कर्म तीनों दिखाये—*'हिय हरष न थोरा' 'बोले बचन बर'* और *'भुजा उठाइ'* (यह कर्म है।)

'कबित्तदोष गुन बिबिध प्रकारा॥'(९। १०) भाग १ में देखिये। १८ दोषोंका प्रमाण दोहा ३४८ चौ० २ 'जय धुनि बिमल बेद बर बानी।' में व्याख्यासहित देखिये।

नृप भुजबलु बिधु सिवधनु राहू। गरुअ कठोर बिदित सब काहू॥ १॥
रावनु बानु महाभट भारे। देखि सरासनु गवहि* सिधारे॥ २॥

शब्दार्थ—**बानु**=बाण; बाणासुर। यह राजा बलिके सौ पुत्रोंमें सबसे बड़ा पुत्र था। शिवजीसे इसने वर प्राप्त कर लिया था कि युद्धमें वे स्वयं आकर इसकी सहायता किया करें। ऊषा जो अनिरुद्धको ब्याही थी, इसीकी कन्या थी। इसके हजार भुज थे। श्रीकृष्णजीने सब भुजाएँ काट डालीं। शिवजीके कहनेसे चार रहने दीं।

अर्थ—राजाओंके भुजबलरूपी चन्द्रमाके लिये शिवजीका धनुष राहु है, भारी और कठोर है, यह बात सबको मालूम है॥ १॥ रावण, बाणासुर (आदि) भारी-भारी महाभट (इस) धनुषको देखकर गँवसे चलते हुए॥ २॥

टिप्पणी—१ (क) *'नृपभुजबलु बिधु.......'* इति। विधुके रूपकका भाव कि सूर्यवंशी राजाओंके बलको धनुरूपी राहु नहीं ग्रस सकता। दोनों भाई सूर्यवंशी हैं, उस धनुषको तोड़नेमें समर्थ हैं। अतः *'नृप भुजबलु'* को विधु कहा, सूर्य न कहा। पुनः भाव कि राजाओंके भुजबलकी शोभा तभीतक है जबतक वे धनुषको छूते नहीं, जैसे जबतक राहु नहीं ग्रसते तबतक चन्द्रमाकी शोभा है। भुजबलको चन्द्र और शिवधनुषको राहु तो कहा पर ग्रसना प्रकट न कहा, केवल अभिप्रायसे जना दिया है; क्योंकि *'भुजबलु बिधु सिवधनु राहू'* इतनेहीसे सब राजा 'माष' उठे, यथा—*'भटमानी अतिसय मन माषे' 'माषे लषन कुटिल भै भौंहें।'* यदि कहीं यह भी कहते कि यह तुम्हारे भुजबलको ग्रस लेगा तो वचन बहुत कटु हो जाता।—इतने ही रूपकसे जना दिया कि धनुष तुम्हारे भुजबलको ग्रास करने आया है, ग्रस लेगा। (ख)*'गरुअ.....'* अर्थात् उठानेमें भारी है, तोड़नेमें कठोर है। तात्पर्य कि प्रथम तो यह उठेगा ही नहीं और यदि उठा भी तो टूटेगा नहीं। (राहु छायामात्र होनेसे मृदु और हलका है। पर यह भारी और कठोर है। वि० त्रि०) (ग) *'बिदित सब काहू।'* भाव कि यह न समझियेगा कि हम भयदर्शनार्थ ऐसा कह रहे हैं, धनुषकी कठोरता और गुरुता सबको विदित है। गुरुता और कठोरता साधारण बात कहकर इस बातकी पुष्टि दो भारी महाभटोंका उदाहरण देकर करते हैं। (घ) गुरुता और कठोरता यही धनुषरूपी राहुके मुखकी नीचे-ऊपरकी डाढ़ें हैं, जिससे वह भुजबलचन्द्रको ग्रस लेता है। यहाँ 'परम्परित रूपक' है, कठोर, यथा,—*'कुलिस कठोर कूर्मपीठ तें कठिन अति.......'* (क० १। १०)

टिप्पणी—२ *'रावनु बानु महाभट भारे।'* इति। (क) *'महाभट भारे'* कहकर भटोंकी तीन कोटियाँ जनायीं—भट, महाभट, भारी महाभट। भारी महाभट यह अन्तिम कोटि है, इनसे अधिक बलवान् कोई नहीं। रावण और बाणासुरका ही नाम दिया; क्योंकि यहाँ धनुष उठानेका प्रयोजन है और ये दोनों उठानेमें बहुत बलवान् हैं। रावणने कैलास उठाया, यथा—*'जेहि कौतुक सिव सैल उठावा।'* (२९२। ८) और बाणासुरने सुमेरु उठाया, यथा—*'सकै उठाइ सरासुर मेरू।'* (२९२। ७) अतः इनके नाम देकर जनाया कि यह धनुष कैलास और सुमेरुसे भी कहीं अधिक भारी है, क्योंकि रावण और बाणासुरने कैलास और सुमेरुको उठाया था सो वे इसे देखकर ही हार मान गये, छूनेका भी साहस न कर सके। (ख) *'गँवहि सिधारे'* इति। **गँवहि**=गँवसे, चुप-चाप या बात बनाकर रावण यह कहकर चल दिया कि हमारे गुरुका धनुष है, हम कैसे तोड़ें और बाणासुरने कहा कि जानकीजी हमारी माता हैं। दोनोंमेंसे किसीने उसे छुआतक नहीं, यथा—*'रावनु बानु छुआ नहिं चापा।'* (ग) *'देखि सरासनु'* से जनाया कि दर्शनमात्र करके चले गये। न छूनेका भाव कि धनुष राहु है, हमारे बलको ग्रस लेगा। अर्धालीका आशय यह है कि जब उन्होंने छूनेतकका साहस न किया तब आपलोग समझ बूझकर इसे उठानेको उठें, यथा—*'ऐसे नृप धनु ना गहौ मानौ बचन प्रतीति'* इत्यादि। यहाँ 'अर्थान्तरन्यास अलङ्कार' भी है।

नोट—१ बाबा हरीदासजीका मत है कि धनुषकी गुरुता एवं कठोरता सबपर विदित करनेका हेतु

* 'गवहि' के 'ग' पर बिन्दु (.) है पर पोछा-से जान पड़ता है।

यह है कि 'जिसमें जनकजी निर्दोष हो जायँ, किसीकी मान-मर्यादामें दाग न लगे, नहीं तो सब दोष जनकजीको देते कि ऐसा प्रण करके हम सबको बुलाकर नाक काट ली।'

नोट—२ श्रीहनुमन्नाटकमें जनकमहाराज और रावणके पुरोहितका संवाद है। रावणने संदेसा भेजा कि जानकीजीको हमें दे दो, जनकजीने उत्तर दिया कि '**माहेश्वरं धनुः कुर्यादधिज्यं चेद्ददामि ताम्।**'(१। १४) जो धनुषको चढ़ावे उसे कन्या दूँ। प्रत्युत्तरमें उसने कहा कि '**गुरोः शम्भोर्धनुर्नो चेच्चूर्णतां नयति क्षणात्**' उसके गुरुका न होता तो इसे वह पलमात्रमें चूर्ण कर डालता। इसपर जनकजीने हँसकर कहा कि शम्भुके कैलासको भुजाओंके खेलसे उठानेको समर्थ है। तब धनषुको उठानेमें क्या? '**शम्भोरावासमचलमुत्क्षेप्तुं भुजकौतुकी। माहेश्वरं धनुः क्रष्टुमर्हते दशकन्धरः॥**'(१। १५) इसपर वह कुपित होकर बोला कि जिसने शङ्कर, पार्वती, गणेश और कार्तिकेयसहित कैलासको उठा लिया उस रावणके भुजदण्डोंकी इस धनुषमें क्या परीक्षा है? '**सार्धं हरेण हरवल्लभया च देव्या हेरम्बषणमुखवृषप्रमथावकीर्णम्। कैलासमुद्धृतवतो दशकन्धरस्य केयं च ते धनुषि दुर्मददोः परीक्षा॥ १७॥**'

सत्योपाख्यान अ० ३ उत्तरार्धमें इस धनुषके सम्बन्धमें विस्तृत उल्लेख है। किसीको वह अजगररूप, किसीको सिंह, किसीको शिव इत्यादि रूप दिखायी पड़ा और कोई पास जाते ही अंधे हो गये। बाणासुरको शङ्कररूप दिखायी पड़ा, यथा—'**प्रोचुस्तदानीं ते सर्वे भेरुः किं चापरूपधृक्। बलेः पुत्रस्तदा बाणश्चचाल च निजासनात्॥ १६॥ धनुषस्तोलनार्थं हि तथा भङ्गाय वीर्यवान्। दुदर्श शिवरूपं च ननाम च पुनः पुनः॥ १७॥ उवाच च सभामध्ये शिवरूपं धनुस्त्विदम्। गम्यते च मया गेहं नास्ति मे योग्यता त्विह॥ १८॥**' अर्थात् उसको शिवरूप देख पड़ा, उसने बारम्बार प्रणाम किया और सभाके बीचमें यह कहकर चल दिया कि यह धनुष शिवरूप है, मेरे योग्य नहीं है, अतः मैं घर जाता हूँ।

नोट—३ यहाँ रावणके सम्बन्धमें '*देखि सरासन गवहिं सिधारे*' कहा। यह राजाओंको प्रतिज्ञा सुनाते समय भाटोंने कहा है। इसके बाद राजाओंका धनुष तोड़नेके लिये उठना कहा है। इससे स्पष्ट है कि यह बात आजके पहले किसी दिनकी है, जब ये राजा लोग नहीं आये थे। आगे श्रीसुनयनाजीने भी ऐसा ही कहा है।—'*रावन बान छुआ नहिं चापा।*' परंतु लंकाकाण्डमें मन्दोदरीजीके वचन हैं—'*जनक सभा अगनित भूपाला। रहे तुम्हउ बल अतुल बिसाला॥ भंजि धनुष जानकी बिआही। तब संग्राम जितेहु किन ताही॥*' (६। ३५) इनसे पाया जाता है कि रावण उस दिन वहाँ था। आपाततः देखनेमें दोनों वाक्योंमें विरोध जान पड़ता है। पर वास्तवमें इनमें विरोध नहीं है। इन वाक्योंका समन्वय मन्दोदरीके '*भूपाला*' शब्दसे हो जाता है। उस दिनके पूर्व रावण अपने रूपसे आया था, अतः सबने पहचाना था और आज वह 'भूपालों' के समाजमें मनुष्य राजाका शरीर धरकर आया जिससे कोई जाने नहीं। कविने यह बात पूर्व ही सबोंकी भावना लिखते समय कह दी है। यथा—'*रहे असुर छल छोनिप बेषा।*' उन्हींमें रावण भी था। श्रीजनकमहाराजके '*देव दनुज धरि मनुज सरीरा। बिपुल बीर आए रनधीरा॥*' (२५१। ८) इन वचनोंसे भी इस भावकी पुष्टि होती है।

सोइ पुरारि कोदंड कठोरा। राजसमाज आजु जोइ तोरा॥ ३॥
त्रिभुवन जय समेत बैदेही। बिनहि बिचारि बरै हठि तेही॥ ४॥

अर्थ—त्रिपुरके नाश करनेवाले शिवजीके उसी कठोर धनुषको राजसमाजमें जो कोई भी आज तोड़े उसे ही तीनों लोकोंकी विजयसहित वैदेहीजी बिना किसी विचारके हठपूर्वक वरण करेंगी (ब्याहेंगी)। [एवं 'त्रिभुवन-विजयसहित वैदेहीको बिना विचारके हठपूर्वक (जनकजी) ब्याह देंगे'—यह अर्थ पं० रामकुमारजीका है। अर्थात् यह जनकका प्रण है।] ॥ ३-४॥

टिप्पणी—१ (क) '*सोइ पुरारि कोदंड।*' [इसके दो अर्थ हैं—'त्रिपुरका शत्रु (नाशक) धनुष' एवं 'त्रिपुरारि शिवजीका कोदंड'। '*सोइ*' अर्थात् जिसे रावण और बाणासुरने छुआ भी नहीं और बातें बनाकर चले गये। इसीसे

शिवजीने त्रिपुरको मारा था। २४४ (५) देखो] पुनः भाव कि त्रिपुरका नाश कठिन था, वैसे ही यह धनुष कठिन है। (ख) *'राजसमाज'* में तोड़नेका भाव कि सबके बीचमें तोड़नेसे उसकी जीत समस्त राजाओं तथा रावण और बाणासुरपर समझी जावेगी। यथा—*'सीय स्वयंबर भूप अनेका। समिटे सुभट एक तें एका॥ संभु सरासन काहु न टारा। हारे सकल बीर बरिआरा॥ तीन लोक महँ जे भट मानी। सभ कै सकति संभु धनु भानी॥ सकै उठाइ सरासुर मेरू। सोउ हिय हारि गयउ करि फेरू॥ जेहि कौतुक सिवसैल उठावा। सोउ तेहि सभा पराभउ पावा॥ तहाँ राम रघुबंसमनि सुनिअ महा महिपाल। भंजेउ चाप प्रयास बिनु जिमि गज पंकज नाल॥'* (२९२) दूतोंकी इस उक्तिसे यह भाव स्पष्ट है। (ग) *'आजु'* का भाव कि आज प्रतिज्ञाका अन्तिम दिन है। सत्योपाख्यानमें लिखा है कि प्रतिज्ञा एक वर्षकी थी, उसमें आजहीका दिन रह गया है। (घ) *'जोइ'* अर्थात् जाति-पाँति आदिका विचार नहीं, गरीब-अमीर इत्यादि कोई विचार न होगा, यथा—*'घोर कठोर पुरारि सरासन नाम प्रसिद्ध पिनाकु। जो दसकंठ दियो बावों जेहि हरगिरि कियो मनाकु॥ २॥ भूमिपाल भ्राजत न चलत सो ज्यों बिरंचि को आँकु। धनु तोरै सोइ बरै जानकी राव होइ कि राँकु॥'* (गी० ८९)

टिप्पणी—२ *'त्रिभुवन जय समेत बैदेही।'*—इति। (क) तीनों लोकोंके सुभट यहाँ एकत्रित हैं, इसीसे जो तोड़ेगा उसकी तीनों लोकोंपर विजय समझी जायगी, अतः *'त्रिभुवन जय समेत'* कहा। (*'जय'* कहकर तब *बैदेही'* कहा; क्योंकि क्षत्रिय राजाओंको जय अत्यन्त प्रिय होती है। यहाँ 'सहोक्ति अलङ्कार' है।) (ख) *'बिनहि बिचारि बरै'* कहनेका भाव कि कन्याका विवाह बहुत विचारकर किया जाता है; यथा—*'जौं घर बरु कुल होइ अनूपा। करिय बिबाह सुता अनुरूपा॥'* (७१। ३) (विशेष वहीं देखिये।) सो कुछ विचार न करेंगे कि वर कन्याके अनुरूप है या नहीं, कुल और घर उत्तम हैं या नहीं, इत्यादि कोई विचार न करेंगे। (ग) श्रीजनकमहाराजके वचनोंमें जो तीन बातोंकी प्राप्ति तोड़नेवालेको कही गयी है, वे ही तीनों बातें भाटोंके वचनोंमें हैं—*'राजुसमाजु आजु जोइ तोरा।'* से विजय, *'त्रिभुवन जय'* से कीर्ति और *'बैदेही'* से सुन्दर जानकीजीकी प्राप्ति कही। यही तीनों जनकजीके *'कुँअरि मनोहर बिजय बड़ि कीरति अति कमनीय'* इन वचनोंमें हैं। धनुष तोड़नेमें भारी लाभ दिखाया—*'कहहु काहि यह लाभु न भावा।'''''''* ☞ राजाने अपनी कन्याको मनोहर कहा सो यथार्थ है। पर बंदीजन स्वामीकी कन्याकी सुन्दरता न कह सके; क्योंकि मनोहर कहनेमें संकोच हुआ, इसीसे उनके वचनको *'बर'* विशेषण दिया गया। पुनः ☞ राजाने तीनों लाभोंकी बड़ाई की—*'कुँअरि मनोहर बिजय बड़ि, कीरति अति कमनीय',* पर बंदीगणने इनमेंसे किसीकी सुन्दरता न कही। जब संकोचवश कन्याकी सुन्दरता न कह सके तब विजय और कीर्तिकी ही बड़ाई क्या करें? (घ) *'हठि'* का भाव कि धनुष टूटनेपर सुन्दरता, कुल, विद्या, धन, अवस्था आदि कुछ भी न देखे जायँगे। [पुनः भाव कि 'दिग्विजय ही बड़े परिश्रमसे साध्य है, सो त्रिभुवनविजय बिना रक्तपातके मिलेगा और जानकी भी मिलेगी।' (वि० त्रि०)]

श्रीराजारामशरणजी—१ (क) घोषणाके शब्दगुणको विचार कीजिये। ऐसे अक्षर और ऐसे शब्द हैं कि रुक-रुककर ही पढ़े जा सकते हैं। कितना ओजगुण है! हम मामूली डुग्गीमें सुनते हैं—*'खलक खुदा-का मुल्क बादशाहका, हुक्म''''''साहबका',* तो फिर यह तो विशेष अवसरकी राजघोषणा है! (ख) यहाँके इस *'बिनहि बिचार'* और *'हठि'* में, और जनतावाले इन्हीं शब्दोंके अन्तरपर विचारनेसे नाटकीय कलाके विरोधाभासका आनन्द मिलेगा। यहाँ आशय यह है कि प्रणके पूर्ण होनेपर फिर कोई 'मीन-मेष' न की जायगी और दृढ़तापूर्वक विवाह हो जायगा; परंतु 'हठि' के दुभाषीपनमें मजा यह भी आ जाता है कि संकेतसे बंदीगणोंने कुछ जनताके विचारोंसे सहानुभूति रखनेके कारण, प्रशंसा ऐसी की जो अप्रशंसाहीकी ओर झुकी है।

बाबा हरीदासजी लिखते हैं कि *'त्रिभुवन जय'* में जनकका कौन अधिकार है? कैसे जाना कि त्रिभुवनमें जय-जयकार होगा? उत्तर यह है कि जब शिवजी यह धनुष दे गये तब यह भी कह गये कि इसका पूजन करो, इसके तोड़नेवालेका त्रिभुवनमें जय-जयकार होगा। जनकजी समझ गये कि त्रिभुवन-

विजयी तो परमेश्वर ही हैं, दूसरा नहीं। अतः यह प्रतिज्ञा की जिसमें वे दीनदयाल आकर इस बहाने हमें दर्शन दें। और यह जो प्रतिज्ञा है कि *'बिनहि बिचार बरै हठि तेही',* यह देखनेमें लोकविरुद्ध है, यह केवल लोक-प्रलोभनार्थ एवं सब वीरमानी भटोंके मानमर्दनार्थ उत्प्रेरकने उनसे कहलवाया, जिसमें वे सब तोड़ने उठें, पीछे यह न कहें कि हमें तो उठानेका अवसर ही न मिला।

प० प० प्र०—*'त्रिभुवन जय……'* इति। जनकजी जानते हैं कि विष्णु, शिव, ब्रह्मा और इन्द्र भी रावणको मार नहीं सकते। यह बात विश्वविदित है, क्योंकि*'ब्रह्मसृष्टि जहँ लगि तनु धारी। दसमुख बसवर्ती नरनारी॥', 'भुजबल बिस्व बस्य करि राखेसि कोउ न सुतंत्र॥'* (१। १८२) अतः त्रिभुवन-जय ही क्यों, विश्वविजयसमेत कहते तो भी कुछ दोष न था। परशुरामने भी रावणका विनाश नहीं किया। वे यह तो जानते थे कि रावण विप्रद्रोही एवं धर्मद्रोही है। ऐसा विश्वबलिष्ठ रावण भी जिस कोदण्डको न तोड़ सका, उसको जो तोड़ेगा वह विश्वविजयी ही होगा। अतः शंकाके लिये स्थान ही नहीं है और शिवजीने जनकजीसे क्या कहा था यह विचार भी अनावश्यक है।

नोट—हनुमन्नाटक अङ्क १ में जनकमहाराजने स्वयं अपनी प्रतिज्ञा सुनायी है जो बंदीगणके द्वारा यहाँ कही गयी है। यथा—'**शृणुत जनककल्पाः क्षत्रियाः शुल्कमेते दशवदनभुजानां कुण्ठिता यत्र शक्तिः। नमयति धनुरैशं यस्तदारोपणेन त्रिभुवनजयलक्ष्मीर्जानकी तस्य दारा॥**' (१८) अर्थात् हे जनकके समान राजा लोगो! तुम सब मेरी प्रतिज्ञा सुनो कि जिस धनुषमें रावणकी भुजाओंकी शक्ति कुण्ठित हो गयी उस शिवधनुषको जो कोई चढ़ावेगा उसीकी त्रिलोकीके विजयकी शोभा यह जानकी स्त्री होगी। पर यहाँके *'त्रिभुवन जय समेत बैदेही। बिनहि बिचार बरै हठि तेही॥'* के गौरवको विचारिये।

सुनि पन सकल भूप अभिलाषे। भट मानी अतिसय मन माषे॥ ५॥
परिकर बाँधि उठे अकुलाई। चले इष्टदेवन्ह सिर नाई॥ ६॥

अर्थ—प्रण सुनकर सभी राजा लालायित हुए (प्राप्तिके अभिलाषी हुए, ललचाये) और मानी भट मनमें अत्यन्त 'माषे'॥ ५॥ कमरमें फेंटा बाँधकर अकुलाकर उठ खड़े हुए। अपने-अपने इष्टदेवोंको प्रणाम करके चले॥ ६॥

टिप्पणी—१ (क)*'सुनि पन सकल भूप अभिलाषे।'* यहाँतक प्रणका कथन है। बंदियोंने कहा था कि *'सुनहु सकल महिपाल! पन बिदेह कर'* इसीसे सबका प्रणको सुनना और सभीका लालायित होना यहाँ कहा। *'सोइ पुरारि कोदंड कठोरा। राज समाज आजु जोइ तोरा॥ त्रिभुवन जय समेत बैदेही। बिनहि बिचार बरै हठि तेही॥'* यह प्रण सुनकर सबको लालसा हुई (क्योंकि आये तो थे श्रीजानकीजीके लिये ही और प्राप्त होगी त्रिभुवनजयलक्ष्मी भी। वि० त्रि०)। और *'नृप भुजबल बिधु सिवधनु राहू'* यह सुनकर सबको अमर्ष हुआ क्योंकि यह बात ही 'माष' की है। (ख) *'भट मानी'* =जिनको योद्धाओंमें मान है। *'अतिसय मन माषे'* का भाव कि माखे तो सभी भट पर जो मानी भट थे वे अत्यन्त माखे। ['माष' शब्द अमर्षसे बना हुआ मालूम होता है। मर्ष=सहनशीलता। अमर्ष=असहनशीलता, अधीरता। और इसीलिये रोष और क्रोध भी (जो असहनशीलता और अधीरतासे हो जाता है) अर्थ लिया जा सकता है। माषनेमें वही 'न सह सकनेका' भाव है। पं० रामकुमारजी इसका अर्थ 'बुरा मानना' लिखते हैं। पोद्दारजी 'तमतमाये' अर्थ करते हैं और कोशमें 'अप्रसन्न होना, क्रोध करना' अर्थ है। हमारी समझमें यहाँ बलका गर्व होनेसे दूसरेके प्रतिकूल वचन न सह सकनेका भाव है। भटमानी किंचित् न सह सके।] माषे कि यह कौन-सा बड़ा काम है जिसके लिये बंदीजनने ऐसे कड़े शब्द कहे। (ग) 'रावण-बाणासुरने धनुष न छुआ यह सुनकर राजा डरे नहीं, बरंच अतिशय मनमें बुरा माने, कारण कि (ये भी) रावण-बाणासुरके समान हैं, यथा—*'बान बलवान जातुधानप सरीखे सूर जिनके गुमान सदा सालिम संग्राम को।'* (क० १। ९)

टिप्पणी—२ *'परिकर बाँधि उठे अकुलाई।'* इति। (क)—**परिकर**=कटिबन्धन, कमरमें बाँधनेका पटुका। कमर कस लेनेसे कमरमें जोर रहता है। *'अकुलाई'* इति। भाव कि *'त्रिभुवन बिजय समेत बैदेही'* की प्राप्ति बड़ा भारी लाभ है, अतः अकुलाकर, घबड़ाकर उठे कि हम ही सबसे पहले धनुष तोड़कर यह लाभ प्राप्त कर लें, हमसे पहले कोई और न तोड़ने पाये। [यहाँ व्याकुलताकी दशा दिखाते हैं। 'फेंटा बाँधना प्रथम कहा तब उठना' इस तरह शब्दोंकी योजनासे आकुलता दिखा दी कि वचन सुनतेके साथ ही बैठे-ही-बैठे कमरमें फेंटा कसने लगे, जिसमें वचन समाप्त होते ही प्रथम ही जाकर उठा लें। पुनः भाव कि बड़े-छोटे, आगे-पीछे इत्यादिका विचार उन्हें न रह गया, सभी एकबारगी उठ खड़े हुए कि किसी तरह सीताजी हमको ही मिल जायँ—यहाँ 'लक्षणामूलक व्यंग' है।]

(ख) *'चले इष्टदेवन्ह सिर नाई'* इति। इष्टदेवोंको प्रणाम करके चले तब भी धनुष क्यों न टूटा; कारण कि उमा, महेश, गणेशादि सभी देवताओंके इष्ट श्रीसीतारामजी हैं। (सभी श्रीरामनाम जपते हैं। यथा—*'उमा सहित जेहि जपत पुरारी', 'जपति सदा पिय संग भवानी।', 'प्रथम पूजियत नाम प्रभाऊ॥'* इत्यादि। नाम इष्टका जपा जाता है।) श्रीजानकीजी समस्त देवताओंकी माता हैं, इष्ट हैं। जब ये राजा माताको ही चाहने लगे तब सब देवता अप्रसन्न हो गये। ['जो उनमें बल था वह भी उन्होंने खींच लिया, क्योंकि उन्होंने देख लिया कि ये ऐसे मूर्ख हैं कि हमारे ही इष्टको पत्नीरूपमें वरण करनेके विचारसे धनुष तोड़ने जाते हैं, इनके इस कार्यसे हम भी दोषके भागी होंगे।' (रा० कु०) पंजाबीजी लिखते हैं कि 'धनुष शिवजीका है, उसके तोड़नेका इन्होंने उद्योग किया और साक्षात् ब्रह्मको छोड़ सामान्य देवताओंको मनाकर चले हैं कि जय प्राप्त हो, जैसे कोई सागरको तैरना चाहे और मूर्खतावश तालाबकी पूजा करे तो सफलता कैसे हो सकती है?' और वीरकविजी कहते हैं कि यहाँ श्लेषद्वारा यह अर्थ निकलता है कि उनके चलनेपर इष्टदेवोंने अपना सिर नीचा कर लिया, वे समझ गये कि आज इसने मेरी मर्यादाको धूलमें मिला दिया। यह 'विवृतोक्ति अलङ्कार है'।]

☞ मिलान कीजिये—*'सुनि आमरषि उठे अवनीपति लगे बचन जनु तीर। टरै न चाप करें अपनी सी महामहाबलधीर।'* (४) *नमित सीस सोचहिं सलज्ज सब श्रीहत भए सरीर।'* (गी० ८९)

तमकि ताकि * तकि शिवधनु धरहीं । उठइ न कोटि भाँति बलु करहीं॥ ७॥
जिन्ह के कछु बिचारु मन माहीं। चाप समीप महीप न जाहीं॥ ८॥

शब्दार्थ—**तमकि**=तावमें आकर, क्रोध करके, यथा—*'सो सुनि तमकि उठी कैकेई।'*=बड़े तावसे।

अर्थ—वे तमककर शिवजीके धनुषको ताक-ताककर पकड़ते हैं, करोड़ों प्रकारसे जोर लगाते हैं पर वह नहीं उठता॥ ७॥ जिन राजाओंके मनमें कुछ भी विवेक है वे धनुषके पास नहीं जाते॥ ८॥

टिप्पणी—१ (क) *'ताकि तकि'* इति। छन्दोभंगके भयसे *'ताकि'* को *'तकि'* लिखा, यथा—'**अपि माषं मषं कुर्याच्छन्दोभंगं न कारयेत्।**' ताक-ताककर कि कहाँपर पकड़नेसे उठेगा। तमककर पकड़ते हैं, क्योंकि क्रोधसे शरीरमें अधिक बल आता है, क्रोधका ताव उतर जानेपर शरीरमें सुस्ती आती है। अथवा *'तकि तकि'* को छन्दके कारण *'ताकि तकि'* किया। यथा—*'तकि तकि तीर महीस चलावा। करि छल सुअर सरीर बचावा॥'* (१५७। ३) *'रघुपति बिरह सबिष सर भारी। तकि तकि मार बार बहु मारी॥'* *'तमकि'* का भाव कि पहले 'माष' के पीछे क्रोध हुआ। यथा—*'माषे लषन कुटिल भै भौंहैं। रदपट फरकत नयन रिसौंहैं॥'* (२५२। ८)

नोट—१ जो लोग *'ताकि'* और *'तकि'* को पृथक्-पृथक् अर्थके शब्द मानते हैं वे यों अर्थ करते

---

* ताकि तकि—प्रायः सबमें है। ताकि तकि—१६६१। तमकि तकि—१७०४ (शं० ना०। पर रा० प्र० में 'ताकि तक्कि' ही पाठ है), को० रा०। ताकि तक=लक्ष्य बाँधकर। (वि० त्रि०)

हैं—तावमें आकर वा क्रोधपूर्वक शिवजीके धनुषको ताककर फिर (उसके उठानेकी गँवघात) तककर (कि अमुक ठौरसे इस भाँति पकड़नेसे ठीक होगा) उस स्थानपर दृष्टि जमाकर उसे पकड़ते हैं। इस तरह '**ताकि**'=सीध बाँधकर। '**तकि**'=उठानेकी घात ताकभालकर वा निगाह जमाकर डटाकर। अथवा, 'ताकना' किसी वस्तुको अच्छी तरह सोच-विचारकर वा दृष्टि जमाकर मनमें स्थिर वा तजबीज कर लेनेको कहते हैं और 'तकना' देखना या निहारना है।

नोट—२ '***उठइ न कोटि भाँति*······**' इति। अर्थात् पहले धनुषका एक कोना पकड़कर उठाया, एक हाथ लगाया। न उठा तब दोनों हाथ लगाये। फिर भी न उठा तब पृथ्वीपर पैर गड़ाकर बल किया। इत्यादि। वीरकविजीके मतानुसार यहाँ 'विशेषोक्ति अलङ्कार' है।

नोट—३ (क) श्रीलमगोड़ाजी बाकी धनुषयज्ञके दृश्यके सम्बन्धमें अपने 'वि० मा० हास्यरस' नामक पुस्तकमें पृष्ठ ४३ पर लिखते हैं कि—'सारा दृश्य वीर, शृङ्गार, हास्य और करुणा-रसोंके विशेष सम्मिश्रणसे इतना सुन्दर बन गया है कि मुझे तो ऐसा दृश्य अंग्रेजी, फारसी, उर्दू, हिन्दी—इन चार साहित्योंमें नहीं मिला।' (ख) इन प्रगतियोंकी सगर्भता (सगर्वता) को विचारियेगा, फिर निष्फलताके कारण ये प्रगतियाँ कितनी हास्यप्रद हैं। मुँहसे निकल जाता है—'***लेना लपक के।***' (ग) फिल्मकलाका कितना सुन्दर नमूना है!

टिप्पणी—२ (क) प्रथम जो कहा था कि '***सुनि पन सकल भूप अभिलाषे***' अब उसीको सँभालते हैं कि '***जिन्ह के कछु बिचार*······**'। अर्थात् जिनमें कुछ विवेक है वे श्रीराम-जानकीको माता-पिता समझते हैं, यथा—'***सिख हमारि सुनि परम पुनीता। जगदंबा जानहु जिय सीता*······**', वे धनुषके समीप भी जानेमें दोष समझते हैं, ऐसे भाववाले लोग समीप भी नहीं जाते। (ख) '***कछु बिचार***' कहकर जनाया कि जो राजा तोड़ने गये वे बिलकुल विचारहीन थे, मूढ़ थे जैसा आगे कहते हैं—'***तमकि धरहिं धनु मूढ़ नृप।***' पुनः '***कछु***' का भाव कि यह बात थोड़े ही विचारसे समझमें आ जाती है कि श्रीराम-जानकीजी जगत्के माता-पिता हैं। [पूर्व तीन प्रकारके राजा राजसमाजमें कह आये हैं—राजसी, तामसी और सात्त्विकी। जब यह कहा कि '***सुनि पन सकल भूप अभिलाषे***' तब '***सकल***' में सात्त्विक अर्थात् साधु, हरिभक्त राजा भी आ गये। इसीसे यहाँ उसका निराकरण कर दिया। '***जिन्ह के कछु बिचारु मन माहीं***' से जनाया कि जो सात्त्विकी राजा हैं, साधु भूप हैं, वे भावुक हैं, उनकी भावना पक्की है, पूर्ण विचारवाले हैं, वे भला चाप-समीप कब जाने लगे? जब कि जिनके '***कछु***' किञ्चित् भी विचार है वे ही चापके समीप नहीं गये। राजसीमें कुछ लोग ऐसे अवश्य होंगे जिन्हें अपने तेज-यशप्रतापादिके गँवा जानेका विचार हुआ, इससे वे भी समीप न गये, अभिलाषा जरूर हुई, यह भी '***कछु बिचार***' वालोंमें आ सकते हैं। इन्होंने सोचा कि रावण-बाणासुरसे नहीं टसका तब हमसे कैसे उठेगा। (प्र० सं०) कोई राजा रावण-बाणासुरके समान बलवान् भी नहीं है। अतः यह जानकर कि रावण-बाणासुर भी धनुर्भङ्गका दुःसाहस न कर सके। कोई राजा उसका साहस करता है तो वह मूढ़ है ही। (प० प० प्र०)]

नोट—४ '***कछु बिचार***' के और भाव हैं—१ 'उठनेसे पराक्रमहीन कहावेंगे, शिवजीका यह धनुष है। इसके तोड़नेमें भलाई नहीं क्योंकि शिवजी कोप करेंगे। श्रीसीताजी अयोनिजा हैं। इनको माता समझना चाहिये। इनके लिये वर भी वैसे ही चाहिये।' (रा० प्र०) २—'दूसरोंका बल-पौरुष देखकर समझते हैं कि हमसे न उठेगा। पुनः श्रीरामजीका प्रभाव जानते हैं, इससे भी न उठे'। (पंजाबीजी) ३—'***जिन्ह के कछु***' अर्थात् जिनके हृदयपर सात्त्विक राजाओंके उपदेशका कुछ भी प्रभाव पड़ा है, वे भी नहीं जाते और विचारवानोंकी तो बात ही क्या? ४—'कुछ लोगोंका मत है कि '***कछु बिचार***' शब्द सात्त्विक विचारका अर्थ देता है; क्योंकि सत्त्व-रज-तममेंसे सबसे अधिक स्थूल रूप तमका है। फिर उससे सूक्ष्म रजका, फिर उससे सूक्ष्म सत्त्वका। अतः 'कुछ विचार' का अर्थ हुआ—'अति सूक्ष्म सतोगुणमय विचार अर्थात् जो इस बातको सत्यतापूर्वक जानते हैं कि जानकीजी जगन्माता हैं वे निकट नहीं जाते, तमोगुणवाले तो इसे जानते ही नहीं और रजोगुणवाले इसे समझ नहीं सकते।' (लाला भगवानदीन)

दो०—तमकि धरहिं धनु मूढ़ नृप उठै* न चलहिं लजाइ।
मनहु पाइ भट बाहुबलु अधिकु अधिकु गरुआइ॥ २५०॥

अर्थ—(विचारहीन) मूर्ख राजा धनुषको क्रोधपूर्वक बड़े तावसे पकड़ते हैं और न उठनेपर लजाकर चल देते हैं। ऐसा जान पड़ता है कि मानो वह धनुष योद्धाओंके भुजाओंका बल पा-पाकर अधिक-से-अधिक भारी होता जाता है॥ २५०॥

टिप्पणी—१ (क) *'तमकि ताकि तकि शिवधनु धरहीं'* पर प्रसङ्ग छोड़ा था, वहींसे फिर उठाते हैं। अथवा, भारी वस्तुके उठानेकी रीति यहाँ दिखायी कि प्रथम उठाने लगे, जब न उठा तब श्रम निवारण करने लगते हैं, थकावट दूरकर फिर उठाते हैं, यथा *'झपटहिं करि बल बिपुल उपाई। पद न टरइ बैठहिं सिर नाई॥ पुनि उठि झपटहिं सुर आराती। टरइ न कीस चरन एहि भाँती॥'* (६। ३३) इसी तरह यहाँ भी प्रथम उठाने लगे, न टला तब सुस्ताकर फिर उठाने लगे—यह भाव दरसानेके लिये दो बार तमककर उठाना लिखा, एक बार ऊपर चौपाईमें, दूसरी बार यहाँ। जब दूसरी बार भी न उठा तब लजाकर चले गये। पहली बार न उठनेपर आशा बनी रही कि सुस्ताकर उठा लेंगे, दूसरी बार न उठनेपर हताश हो गये। (ख) धनुषकी कठोरताको नहीं समझते इससे *'मूढ़'* कहा। अथवा विचारहीन होनेसे, श्रीरामजानकीजीका स्वरूप न जाननेसे *'मूढ़'* कहा। (जो सरल बात न समझ सके उसे मूढ़ कहते हैं, यथा—*'माया बिबस भये मुनि मूढ़ा। समुझी नहिं हरिगिरा निगूढ़ा॥'*) (ग) प्रथम सबका उठाना, सबका चलना और सबका धर पकड़ना कहा। यथा—*'परिकर बाँधि उठे अकुलाई'*, *'चले इष्टदेवन्ह सिर नाई'*, *'तमकि ताकि तकि'*……।' इससे पाया गया कि सब राजा एक साथ ही धनुषको जा पकड़े। जब यह कहा कि *'मनहु पाइ भट बाहु बल'*……' तब यह समझ पड़ा कि सब राजा एक-एक करके पृथक्-पृथक् धनुषको पकड़ते हैं, एक सङ्ग नहीं।

(शंका)—*'अधिक अधिक गरुआना'* तब निश्चय समझा जावे जब एकके उठानेसे धनुष कुछ उठे, दूसरेसे न उठे, तीसरेसे न डगे, चौथेसे न डगे। जब एक सदृश सबसे टस-से-मस नहीं होता, हिलाये न हिला, तब अधिक-अधिक गरुआना कैसे समझा जाय?' (समाधान)—भटोंका बाहुबल पाकर उसमें गुरुता इस तरह आयी कि जब एक राजासे न उठा तब जाना गया कि धनुष भारी है कि ऐसे भटसे न उठा। इसी तरह जब दूसरेसे न उठा तब मालूम हुआ कि बहुत भारी है। इनसे भी न उठा इत्यादि। प्रत्येक बार अधिक भारी समझ पड़ता गया। ☞ वस्तुतः धनुष राजाओंका बल पाकर अधिक-से-अधिक भारी नहीं हुआ, वह तो स्वतः भारी है। जैसा भारी पहले था वैसा ही अब भी है। यह केवल उत्प्रेक्षा है। (मानो जब एक राजा हार गया तो समझा गया कि इसका बल उसने खींच लिया, वह राजा अब बलहीन हो गया। इसी तरह जिस-जिसने छुआ वह अपना बल गँवा बैठा, वह बल मानो धनुषने खींच लिया। यहाँ 'असिद्धविषया हेतूत्प्रेक्षा' है।)

नोट—१ *'अधिक अधिक गरुआइ'* इति। भाव यह है कि जब एकके उठाये न उठा तब धनुषकी बड़ाई हुई कि वाह ऐसे भटसे भी न उठा। इसी प्रकार जैसे-जैसे भट हारते गये उसकी बड़ाई अधिक होती गयी। (प्र० सं०) अथवा, धनुष दिव्य है, उसमें बल हरने और अधिक भारी होनेकी भी शक्ति है।

नोट—२ जानकीमंगलमें राजाओंके उठानेका प्रसङ्ग इस प्रकार वर्णित है—*'उठे भूप आमरषि सगुन नहि पायउ॥'* (५४), *'नहिं सगुन पाएउ रहे मिसु करि, एक धनु देखन गए। टकटोरि कपि ज्यों नारियरु सिर नाइ सब बैठत भए॥ इक करहिं दाप न चाप सज्जन बचन जिमि टारे टरै। नृप नहुष ज्यों सबके बिलोकत बुद्धिबल बरबस हरै॥'* (५५)

कवितावलीमें भी कहा—**'जनकसदसि जेते भले भले भूमिपाल किए बलहीन बल आपनो बढ़ायो है।'** (१। १०)

* उठै-१७०४, १७२१, १७६२। उठइ-छ०, को० रा०। उठे-१६६१।

भूप सहसदस एकहि बारा। लगे उठावन टरै न टारा॥ १॥

अर्थ—दस हजार राजा एक ही बार उठाने लग गये तो भी टाले न टला (टस-से-मस न हुआ)॥ १॥

नोट—१ सत्योपाख्यानमें लिखा है कि जब किसीसे धनुष न उठा तब सबने सलाह की कि जनकजीकी प्रतिज्ञा कैसे पूरी की जाय। यह विचारकर यह निश्चित किया गया कि सब मिलकर तोड़ें, फिर आपसमें संग्राम करें, जो सबको जीते वह जानकीजीको ब्याहे। गोस्वामीजीने यह सब वृत्तान्त न लिखकर केवल सब राजाओंका एक साथ एक ही समय धनुष उठाना लिख दिया। प्रथम एक-एक वीरने अलग-अलग उठाया। जब किसीसे न उठा तब सब एक साथ जुट गये।

नोट—२ दस हजार राजाओंके एक साथ उठानेका भाव कि बंदीजनोंसे सुन चुके हैं कि रावण और बाणासुर '*देखि सरासन गवहिं सिधारे॥*' रावण और बाणासुरके हजार-हजार वीरोंका बल था, हम सब दस हजार राजा हैं, हमारे सबके मिल जानेसे दस हजार वीरोंका बल हो जाता है, रावण और बाणासुरसे दसगुणा बल हो जायगा तब तो उठ जायगा, अतः दसों हजार एक साथ उठाने लगे।—(पं० रामकुमारजी)

नोट—३ ऐसा भी कहते हैं कि '*तमकि धरहिं धनु*······' में दैत्य और यहाँ मनुष्य राजाओंको कहा है।

नोट—४ अब यह शंका होती है कि 'धनुषमें दस हजार राजा एक ही बार कैसे लगे?' समाधान यह है कि—(क) यहाँ श्रीरामजीकी बड़ाई होनी है कि जो दस हजारसे भी टसकाये न टसका उसे अकेले श्रीरामचन्द्रजीने तोड़ डाला। उन्हींकी इच्छासे धनुष बढ़ गया। जैसे जब सब कपि मेघनादसे हार गये तब लक्ष्मणजीने उसे मारा तो उनकी बड़ाई हुई कि जो किसीसे न मारा जा सका उसे लक्ष्मणजीने मारा। पुनः, (ख) इस धनुषमें घटने-बढ़ने, हलका-भारी होने, अनेक रूप धारण कर लेने इत्यादिकी विलक्षण शक्ति थी, जैसा पूर्व लिखा जा चुका है कि वह किसीको सिंह, किसीको शङ्कर इत्यादि देख पड़ा था और '*अधिकु अधिकु गरुआइ।*' यह धनुष दिव्य था। गीतावलीमें धनुषका रामजीको देखकर सिकुड़कर हलका होना कहा गया है, यथा—'*दाहिनो दियो पिनाकु सहमि भयो मनाकु महाब्याल बिकल बिलोकि जनु जरी है।*' (गी० १। ९०) अर्थात् जैसे बूटीको देखकर महासर्प व्याकुल हो सिकुड़ जाता है वैसे ही धनुष रामजीको देखकर सहमकर कुछ भी न रह गया। इस धनुषका प्रभाव सत्योपाख्यानसे विदित है। (पं० रामकुमारजी, सन्त श्रीगुरुसहायलालजी) (ग) 'कई-कई मानी भट मिलकर जब खिसका भी न सके तो सलाह हुई कि बहुत-से मिलकर घसीटो। फिर भी जब धनुष न टला, तो दस हजार राजाओंने मिलकर उत्तोलनदण्डमें जंजीर बाँधकर सबने मिलकर खींचा कि उठ जाय पर न उठा। '*लगे उठावन*' से तात्पर्य यह है कि उठानेमें दस हजार लगे थे। उत्तोलनदण्डमें सैकड़ों जंजीरें बँध सकती थीं और प्रत्येक जंजीरके खींचनेमें सैकड़ों भट लग सकते थे।'—(गौड़जी) (घ) 'नाटकीय कलामें गौड़जीकी युक्तिवाला अर्थ ठीक है और महाकाव्यकलामें दिव्य धनुषका असीम हो जाना और दस हजार राजाओंका लग जाना भी असम्भव नहीं। फिर हास्यरसकी भी बात विचारणीय है। मसल मशहूर है कि नौ सौ आदमी लगे और एक मूली न उखड़ी (वह वाद-विवाद और गुत्थमगुत्था मची कि मूली ज्यों-की-त्यों रही, उखड़े कहाँसे?) कविका कमाल यह है कि सब ही निभ जाता है।' (लमगोड़ाजी)

नोट—५ बहुत-से टीकाकारोंने '*सहस दस एकहि बारा*' का अर्थ ही इस शंकाके डरसे तोड़-मड़ोरकर किया है। जैसे कि—(क) '*एकहि बारा*' (=एक ही दिनमें) दस हजारने उठाया। (ख) '*एकहि बारा*' अर्थात् एक श्रीरामचन्द्रजीको छोड़कर अन्य दस हजार राजाओंने उस दिन अपना पुरुषार्थ जनाया। (ग) '**सहस**'=सहस्र-भुजवाले सहस्रबाहु राजाने और '**दस**'=दशशीस रावणने। दोनों मिलकर एक ही बार उठाया। (घ) दस-दस, बीस-बीस या ऐसे ही कमोबेश लोग एक साथ एक-एक बार लगे। इस तरह दिनभरमें दस हजार लगे, नहीं तो एक-एक करके दस हजार दिनभरमें कैसे पूरे हो सकते थे? इत्यादि। पर ये सब असङ्गत और क्लिष्ट कल्पनाएँ हैं।

वि० त्रि०—'*तमकि धरहिं धनु मूढ़ नृप*' जो कहा था, उसी मूढ़ताका अब उदाहरण देते हैं। पहिले

'अंध अभिमानी' कह आये हैं, इनका ज्ञान तामस है। जो तत्त्वार्थवाला नहीं है तथा अल्प है, ऐसे एक ही कार्यको सब कुछ मानकर निष्कारण उसमें लग जाता है, उसे तामस ज्ञान कहते हैं। यथा—**'यत्तु कृत्स्नवदेकस्मिन् कार्ये सक्तमहैतुकम्। अतत्त्वार्थवदल्पं च तत्तामसमुदाहृतम्॥'** धनुषके उठनेको ही सब कुछ समझ लिया, यह नहीं समझ रहे हैं कि इस भाँति उठ भी जायेगा तो क्या फल होगा। ऐसे उठानेमें तत्त्वार्थ कुछ नहीं, व्यर्थ है फिर भी दस हजार एक साथ ही उठाने लग गये।

श्रीनंगे परमहंसजी लिखते हैं—जो लोग यह तर्क करते हैं कि यदि टूट जाता तो विवाह किससे होता? इसके समाधानके लिये ***'तमकि धरहिं धनु मूढ़ नृप'*** में ***'मूढ़'*** शब्द है। मूढ़को विचार कहाँ? और जो सहस्रसे सहस्रबाहु और दससे दसशीशका अर्थ निकालते हैं वह इसलिये अयोग्य है कि ***'लगे उठावन'*** वर्तमानकालिक क्रिया है और इन दोनोंके लिये बन्दीजन कह चुके हैं कि ***'देखि सरासन गवहि सिधारे।'*** यदि कहा जाय कि उस दिन भी पुनः आ गये होंगे तो पीछे अवध जानेवाले जनकदूतोंका ***'रावन बान छुआ नहिं चापा'*** यह वचन असत्य हो जाता है। साथ ही यह जो शंका की जाती है कि दस हजार राजाओंको हाथ रखनेकी जगह कहाँ मिलती थी? इसका समाधान ***'मनहुँ पाइ भट बाहुबल अधिकु अधिकु गरुआइ'*** से हो रहा है। दिव्य तो था ही उसका घट जाना, बढ़ जाना इत्यादि कई जगह और प्रमाणमें भी दिया गया है।'

डगै न संभु सरासनु कैसें। कामी बचनु सती मनु जैसें॥ २॥

अर्थ—शिवजीका धनुष किस प्रकार नहीं टसकता, हिलता-डोलता, जैसे कामी पुरुषके वचनोंसे पतिव्रता स्त्रीका मन (कदापि चलायमान नहीं होता)॥ २॥

टिप्पणी—१ सतीके मनका दृष्टान्त इस अभिप्रायसे दिया गया है कि जैसे सतीका मन अचल है वैसे ही धनुष अचल है। सतीके मनको चलायमान करनेके लिये कामी बड़ा जोर लगाते हैं। साम-दाम-भय-भेद अनेक प्रयत्न काममें लाते हैं। वैसे ही दस हजार राजाओंने धनुष उठानेमें बहुत जोर किया (लगाया)। सतीके नजदीक (समीप) जैसे कामीका एक वचन है, वैसे ही हजार वचन हैं। इसी प्रकार धनुष उठानेमें जैसे एक वीर वैसे ही दस हजार वीर हैं। न एकसे डोला न दस हजारसे। ☞ यहाँतक तीन बातें कहीं—उठाना, टालना, डगाना। यथा—***'तमकि धरहिं धनु मूढ़ नृप उठै न चलहिं लजाइ' 'लगे उठावन टरै न टारा'*** और ***'डगै न……।'*** भाव कि उठाने लगे पर न उठा तो कुछ टला ही होगा, उसपर कहते हैं कि टाले भी न टला, टला न सही तो हिला तो होगा, उसपर कहते हैं कि ***'डगै न'*** ।—इस दृष्टान्तसे धनुषका किंचित् न डोलना बहुत अच्छी तरह दिखाया है। कामी लोग सतीका मन चलायमान कर देनेके लिये बहुत वचन कहते हैं, यथा—***'बहु बिधि खल सीतहि समुझावा। साम दाम भय भेद दिखावा॥ कह रावन सुनु सुमुखि सयानी। मंदोदरी आदि सब रानी॥ तव अनुचरी करउँ पन मोरा। एक बार बिलोकु मम ओरा॥', 'हारि परा खल बहु बिधि भय अरु प्रीति देखाइ॥'***

नोट—१ नंगे परमहंसजी कहते हैं कि 'सती स्त्रीकी वृत्ति अपने पतिमें ही रहती है। उसी तरह दस हजार राजाओंसे धनुष नहीं उठा, क्योंकि सती स्त्रीकी तरह देव-धनुष होनेसे उसमें भी सत्त धर्म था, अतः कामी राजाओंसे न डगा। सत्त पुरुष श्रीरामजी हैं। जैसे सतीका मन अपने ही पतिसे राजी होता है उसी तरह धनुष श्रीरामजीसे राजी होकर टूटेगा। प्रमाण गीतावली—***'जेहि पिनाक बिनु नाक किये नृप सबहि बिषाद बढ़ायो। सोइ प्रभुकर परसत टूट्यो जनु हुतो पुरारि पढ़ायो॥'*** (गी० १। ९३) मिलान कीजिये ***'पारबती मन सरिस अचल धनु चालक। हहिं पुरारि तेउ एक नारिब्रत पालक॥'*** (जा० मं० ५८)

नोट—२ देखिये, साधु राजाओंका उपदेश इन्होंने न माना और जगज्जननीमें विषयवासना रखकर व्यर्थ परिश्रम इन्होंने किया, इसीसे यहाँ इनको कामीकी उपमा दी गयी। यहाँ उदाहरण अलङ्कार है।

वि० त्रि०—दस सहस्र कामियोंके वचनसे नाममात्रके लिये भी सतीका मन चलायमान नहीं होता। कामी अन्धे होते हैं। कामान्धोंको ज्ञान नहीं कि इतने आदमियोंके साथ बोलनेसे तो अभीष्ट सिद्धि और

भी दूर चली जा रही है। इसी तरह इतने राजाओंके एक साथ लग जानेसे इसी बातकी सिद्धि होती चली जा रही है कि धनुषका उठाना इन राजाओंकी शक्तिके बाहरकी बात है।

लमगोड़ाजी—एक अंग्रेजी आलोचकने कविवर टेनिसनके उस पदकी बड़ी प्रशंसा की है जिसमें उन्होंने भौतिक दृश्यकी उपमा आत्मिक तथा नैतिक क्षेत्रसे देते हुए कहा है कि 'फौवारेका पानी ऊपर जाकर इस प्रकार बिखर जाता है जैसे लक्ष्यहीन (Aimless) मनुष्यके उपयोग।' उन्होंने कहा है कि इससे प्रतीत होता है कि आत्मिक-जगत् तथा नैतिक संसारसे टेनिसनका बड़ा परिचय था मानो उनसे पहले ऐसी उपमाओंका प्रयोग नहींके बराबर है, वहाँ तो नैतिक तथा आत्मिक विषयोंके समझानेके लिये भौतिक उपमाओंका प्रयोग ही होता रहा है। बात ठीक है। हमें इतना कहना है कि तुलसीदासकी रचनाओंमें, विशेषतः मानसमें, इसके सैकड़ों उदाहरण हैं। जब पहिले-पहल रेवरेंड डरन्टसाहबने, जो सेन्टजान्स कालेजमें आचार्य थे और पीछे लाहौरके लार्ड विशप हुए, मुझे ऊपरवाली बात एम० ए० क्लासमें बतायी और मैंने प्रत्युत्तरमें तुलसीदासजीके 'वर्षा-ऋतु' वाले पद सुनाये तो वे तुलसीदासजीकी कलापर मुग्ध हो गये थे।—*'डगै न संभु सरासन कैसें।……'* इसीका उदाहरण है।

☞'प्रसन्नराघवनाटक' में इससे मिलता हुआ श्लोक यह है—**'नेदं धनुश्चलति किंचिदपीन्दुमौलेः। कामातुरस्य वचसामिव सविधानैरभ्यर्थितं प्रकृतिचारुमनः सतीनाम्॥'** (१। ५६)

सब नृप भये जोगु उपहासी। जैसे बिनु बिरागु संन्यासी॥ ३॥
कीरति बिजय बीरता भारी। चले चाप कर बरबस हारी॥ ४॥

अर्थ—सब राजा उपहासके योग्य हो गये जैसे बिना वैराग्यका संन्यासी (उपहास योग्य होता है)॥ ३॥ धनुषके हाथों वे अपनी भारी कीर्ति, भारी विजय और भारी वीरता बरबस (जबरदस्ती) हारकर चले गये॥ ४॥

टिप्पणी—१ (क) *'सब नृप'* अर्थात् वे सब जो उसे पहिले या पीछे अबतक उठाने गये थे। (ख) *'भये जोगु उपहासी'* इति। अर्थात् सभामें और सभी लोग उनके मुखपर उनकी हँसी उड़ाने लगे कि पुरुषार्थ न था तब क्यों उठाने गये थे, इसी बलबूतेपर उठाने गये, क्या खाकर उठाने गये, कहा न माना सो फल पाया न? इत्यादि। (ग)*'जैसे बिनु बिरागु संन्यासी'* इति। संन्यासीकी उपमा देकर राजाओंकी श्रेष्ठता दिखायी। जैसे संन्यासी श्रेष्ठ हैं वैसे ही ये राजा भी श्रेष्ठ हैं; देवताओंके सदृश हैं, यथा—*'पवन पुरंदर कृसानु भानु धनदसे गुनके निधान रूप धाम सोम काम को।'* (क० १। ९) वैराग्यसे संन्यासीकी बड़ाई है और वैराग्यहीन होना उनकी निन्दा है। यथा—*'सोचिअ जती प्रपंचरत बिगत बिबेक बिराग॥'* (२। १७२) 'संन्यास' का अर्थ ही वैराग्य है। संन्यासी=सं (सम्पूर्ण प्रकारका) न्यास (त्याग) करनेवाला। इसीसे संन्यासीको विषयोंसे पूर्ण वैराग्य होना चाहिये नहीं तो यह नाम ही व्यर्थ है। [जैसे वैराग्य न होनेसे लोग संन्यासीको हँसते हैं कि वैराग्य न था तो घर क्यों छोड़ा, परस्त्रीको ताकना था तो घर रहकर विवाह क्यों न किया, इत्यादि, वैसे ही धनुषके आगे बलहीन साबित होनेसे राजाओंकी हँसी हुई कि 'नपुंसक थे तो यहाँ वीरबाना धरकर घरसे आये ही क्यों थे' बल और विरागकी समता है, यथा—*'जब उर बल बिराग अधिकाई।'* (७। १२२) (घ)*'डगै न संभु सरासन कैसें।'* कहकर*'सब नृप भए……'* कहनेका भाव कि—धनुष सतीका मन है, राजा कामीके वचन-समान हैं। जब सतीका मन न डोला तब बिना विरागके संन्यासीकी तरह उपहासके योग्य हो गये। तात्पर्य कि जैसे वैराग्यहीन संन्यासी कामी होकर सतीका मन चलायमान करानेसे उपहास योग्य और नरकगामी वा नरकका भागी होता है वैसे ही सब राजा उपहास और नरकके योग्य हुए इति अभिप्रायः। (ङ) ☞यहाँ प्रवृत्ति और निवृत्ति दोनों मार्गोंके उदाहरण दिये। *'डगै न संभु सरासन कैसें। कामी बचन सती मन जैसें॥'* यह प्रवृत्तिमार्गका दृष्टान्त है और *'सब नृप भये……'* यह निवृत्तिमार्गका है। [अङ्गदके पदरोपणपर भी ऐसे ही दो दृष्टान्त दिये हैं। क्योंकि

दोनों स्थानोंपर एक ही-सी प्रतिज्ञा है।—*'पुरुष कुजोगी जिमि उरगारी। मोह बिटप नहिं सकहिं उपारी॥''''''भूमि न छाँड़त कपिचरन देखत रिपुमद भाग। कोटि बिघ्न तें संत कर मन जिमि नीति न त्याग॥'* (लं० ३३) यहाँ उदाहरण अलङ्कार है। (प्र० सं०)

वि० त्रि०—वैराग्यरहित संन्यासी और संन्यासी बने हुए भाँड़में कोई भेद नहीं है। यथा—*'मुड़ मुड़ायो बादि ही भाँड़ भयो तजि गेह।'* भाँड़ उपहासीका पात्र है, वैसे ही वैराग्यरहित संन्यासी भी है। क्षत्रियकी श्रेष्ठता बलसे है, उसपर भी राजाके लिये कहा गया है कि अष्ट लोकपालोंका उनमें अंश रहता है। दस सहस्र राजा लगे और धनुष न उठा, इससे तो यही सिद्ध हुआ कि इनमें ईशानका अंश है ही नहीं। ये भी राजा बने हुए भाँड़की भाँति उपहासके ही पात्र हैं।

टिप्पणी—२ (क) *'कीरति बिजय बीरता भारी।'* इति। *'भारी'* कहनेका भाव कि धनुषमें गुरुता और कठोरता भारी है। यथा—*'नृप सब नखत करहिं उजियारी। टारि न सकहिं चापतम भारी॥'* (२३९। १), *'मुदित कहहिं जहँ तहँ नरनारी॥ भंजेउ राम संभुधनु भारी॥'* (२६२। ८) और राजाओंमें कीर्ति, विजय और वीरता भारी है। इस तरह दोनोंमें समान ऐश्वर्य वर्णन किया। यदि राजाओंमें धनुषकी कठोरता-गुरुतासे भारी वीरता होती तो धनुषकी कठोरता गुरुता हरण हो जाती, ऐसा न हो पानेसे राजाओंकी कीर्त्ति, विजय, वीरतासे अधिक गुरुता धनुषमें सिद्ध हुई। यहाँ धनुषके हाथ तीनोंका हारना कहा। [तात्पर्य कि धनुष और राजसमाज दोनोंने अपनी-अपनी बाजी जुएँमें लगायी कि देखें कौन जीतता है। दोनों भारी वीर हैं। राजाओंने अपनी भारी 'कीर्ति-विजय-वीरता' रूपी सम्पत्ति दाँवमें लगायी और धनुषने अपनी गुरुता-कठोरताकी बाजी लगायी। पाँसा धनुषका पड़ा, वह जीता, उसकी गुरुता-कठोरताने राजाओंकी समस्त कीर्त्ति आदिको जीत लिया।—यही धनुषके हाथों हारना हुआ। (ख) कीर्ति आदिके क्रमका भाव कि प्रथम कीर्ति गयी, कीर्तिका कारण विजय होता है सो भी गया और विजयका कारण वीरता है सो भी गयी। क्रमसे कार्य और कारण दोनोंका जाना कहा। (ग) *'बरबस'* का भाव कि स्वयं अपनी मूर्खतासे हठात् हारे, नहीं तो धर्मात्मा राजाओंने प्रथम ही मना किया था, पर उन्होंने न माना। कीर्ति आदि अनेक उपमेयोंकी एक ही क्रिया होनेसे यहाँ 'प्रथम तुल्ययोगिता अलङ्कार' है। (घ) [पंजाबीजी लिखते हैं कि पहले रणधीर कहलाते थे, संग्रामोंमें विजय पाये हुए थे जिससे उनकी कीर्ति और शोभा थी। अब उसे धनुष तोड़कर बढ़ाना चाहते थे। पर अपनी मूढ़तासे वह सब पूर्वकी कमाई भी खो बैठे। (पं०) पूर्व जो कहा गया था कि *'जस प्रताप बल तेज गँवाई।'* (२४५। ४) उसीको यहाँ *'कीरति बिजय बीरता भारी।''''''* से चरितार्थ किया (प्र० सं०) यश, प्रताप, बल और तेज ही यहाँ कीर्ति, विजय और वीरता हैं।]

वि० त्रि०—*'चले चाप कर बरबस हारी'*—भाव कि ये हारे भी तो किसी वीरसे नहीं किन्तु धनुषसे। धनुष स्वयं इनसे लड़ने नहीं गया था, ये ही हठात् उससे लड़ने गये सो अब हारकर लौटे जा रहे हैं।

श्रीहत भये हारि हिय* राजा। बैठे निज निज जाइ समाजा॥ ५॥
नृपन्ह बिलोकि जनक अकुलाने। बोले बचन रोषु जनु साने॥ ६॥

अर्थ—राजा श्रीहत हो गये (उनकी कान्ति जाती रही)। वे हृदयसे हार मानकर अपने-अपने समाजमें जा बैठे॥ ५॥ राजाओंको देखकर जनकमहाराज अकुलाये (घबड़ाये) हुए वचन बोले जो मानो क्रोधमें साने हुए (वचन) हैं॥ ६॥

टिप्पणी—१ (क) *'श्रीहत भए'* इति। कीर्ति, विजय और वीरता यह राजाओंकी 'श्री' (लक्ष्मी, सम्पत्ति) है सो वे धनुषके हाथों हार गये, '**श्रीहत**' कहा। पुनः, श्री=शोभा, कान्ति, तेज, प्रभा। उससे 'हत' हुए अर्थात् शोभाहीन निष्प्रभ वा कान्तिरहित हो गये, यथा—*'नमित सीस सोचहिं सलज्ज सब श्रीहत भए सरीर।'* (गी० ८७) धन नष्ट हो जानेसे जैसे धनी मलिन हो जाता है। (अर्थात् मुखपर

* सब—१७०४। हिय-प्रायः अन्य सबोंमें।

मलिनता वा स्याही छा गयी।) पुनः भाव कि मनसे तो पहिले ही हार माने हुए थे, यथा—'*प्रभुहि देखि सब नृप हिय हारे।*', पर इस हारसे श्रीहत हो गये। (वि० त्रि०) (ख) '*हारि हिय राजा*' इति। पुरुषार्थ थक जानेसे सब लोग हृदयसे हार मान जाते हैं, यथा—'*बहु छल बल सुग्रीव करि हिय हारा भय मानि॥*' (४। ८) इसी तरह सब राजाओंका पुरुषार्थ थक गया। तब वे हृदयसे हार मान गये अर्थात् अब हृदयसे धनुष तोड़नेकी इच्छा ही जाती रही। (ग) '*बैठे निज निज जाइ समाजा*' इति। जो राजा पृथक्-पृथक् धनुष उठाने गये उनका चलना '*तमकि धरहिं धनु मूढ़ नृप उठै न चलहिं लजाइ॥*' (२५०) में कहा। फिर दस हजार राजाओंका चलना कहा जो एक साथ उठानेमें लगे थे, यथा—'*कीरति बिजय बीरता भारी। चले चाप कर बरबस हारी॥*' पर बैठना किसीका न कहा था। दोनोंका बैठना अब एकट्ठा यहाँ लिखते हैं। [प्रश्न होता है कि 'जिनका प्रथम चल देना लिखा गया वे अबतक कहाँ रह गये कि उनका बैठना न कहा?' उत्तर यह है कि] जब दस हजार राजा उठाने चले तब वे लोग रुककर देखने लगे कि देखें इनसे उठता है या नहीं। जब उनसे न उठा और वे भी खिसियाकर चले तब ये भी साथ ही चल दिये और अपने-अपने आसनपर जा बैठे। इसीसे चलना दो बार कहा और बैठना एक बार। (घ) '*निज निज समाजा*' अर्थात् जहाँ जो पूर्व अपने समाजसहित बैठा था। [कोई-कोई 'निज समाज' का अर्थ यह करते हैं कि 'जहाँ और हारे हुए बैठे थे वहाँ जा बैठे, जिसमें जो राजा न उठे थे वे मुखपर न हँसें।' पर इस अर्थमें यह शंका उठेगी कि बैठना तो सबका इसी समय कहा गया, पहले जाकर बैठना किसीका नहीं पाया जाता]।

टिप्पणी—२ (क) '*नृपन्ह बिलोकि जनक अकुलाने*' इति। प्रथम एक-एक करके उठाया तब न उठा, फिर दस हजारने एक साथ जोर लगाया तब भी न उठा। एक तो सब श्रीहत हो गये, दूसरे अब कोई उठता नहीं। यह देख कि अब राजाओंमें कोई धनुष उठानेवाला वीर नहीं है, राजा जनक अकुला उठे कि 'क्या कन्या हमारी कुँआरी रहेगी? क्या पृथ्वी वीरोंसे रहित हो गयी है? [राजा लोग श्रीहत हो जानेपर भी घर न गये, अपने समाजमें जा बैठे। यह देख जनकमहाराजने समझ लिया कि इनके हृदयमें कल्मष है, कहेंगे कि ऐसा प्रण करके जनकने राजसमाजका अपमान किया, और बहुत सम्भव है कि उपद्रव भी करें। अतः जनकजी आकुल हुए। (वि० त्रि०) (ख) '*रोष जनु साने*' इति। रोषयुक्त वचन बोलनेका भाव कि बंदीजनके बोलनेपर तो सब राजाओंको अमर्ष पैदा हो गया था, यथा—'*भट मानी अति मन माखे*'; ☞पर किसीने कुछ पुरुषार्थ न कर दिखाया। अब हमारे वचन सुनकर जो कोई वीर हो वह '**माखे**'। आगे इस वचनकी सफलता लिखते हैं कि '*माखे लखन*······'। (ग) '*जनु*' का भाव कि ज्ञानीको क्रोध होना असम्भव है, इसीसे उत्प्रेक्षा करते हैं। [अर्थात् क्रोध द्वैतभावसे होता है और द्वैत बिना अज्ञानके नहीं होता—'**क्रोध कि द्वैतबुद्धि बिनु द्वैत कि बिनु अज्ञान।**' जनक तो ज्ञानिशिरोमणि हैं। इनको रोष कहाँ, इनकी दृष्टिमें तो जगत् है ही नहीं। ये वचन उनकी व्यावहारिक युक्तिके उदाहरण हैं। रहे-सहे वीरको उत्तेजित करनेके लिये बोले गये हैं। (प्र० सं०)]

☞इसपर श्रीराजारामशरणजी कहते हैं कि 'मेरी समझमें तो '*जनु*' की उत्प्रेक्षाका कारण यह है कि वास्तवमें '*परिताप*' है—'*मेटहु तात जनक परितापू*'; परन्तु वचन क्रोधपूर्ण लगते हैं। शान्तरसको इतना प्रधान करके अर्थ करना कि जनकके व्यक्तित्वके गम्भीर सागरमें भावतरंगोंकी भी गुंजाइश न मानी जाय—तुलसीदासजीकी कलाके विरुद्ध है जिसमें '*मिटी महामर्याद ज्ञानकी*' तक क्षणिक भाव आवेगकी अवस्था भी महाराज जनकके लिये बाँध दिया है।'

प० प० प्र०—'*जनु*' से सूचित किया कि उनके हृदयमें क्रोध नहीं है, पर वचनोंमें क्रोध भर रखा है। जनकजी जानते हैं कि राम ब्रह्म हैं और वे ही धनुष तोड़ेंगे। अतः राजाओंको उत्तेजित करके वे यह सिद्ध करना चाहते हैं कि सभी भूप या भूपरूपधारी देव-दानवादि धनुर्भंग करनेमें असमर्थ हैं। इसमें भी यह हेतु है कि श्रीरामजीके धनुष तोड़नेपर कोई भी यह न कह सके कि 'मैं तो तोड़नेको जानेवाला

ही था पर रघुवरने पहले ही तोड़ डाला।' अतः रघुवर ही विजयी हुए यह मानना भूल है। वैदेहीपर मेरा भी हक है। धनुर्भंगके पश्चात् इस रंगभूमिमें युद्धका सम्भव ही न रह जाय इस हेतुसे क्रोधभरे वचन बोले। श्रीरामजी ही धनुष तोड़ेंगे यह विश्वामित्र भी जानते थे तथापि उन्होंने भी यही कहा कि *'ईस काहि धौं देइ बड़ाई।'* वैसा ही जनकजीका यह क्रोध है। और, आगे जो *'जनक परिताप'* देखनेमें आता है वह भी ऐसा ही बाह्यनाट्य है। वे रघुवरका ऐश्वर्य छिपाना चाहते हैं और दोहा ३४१। ३ तक उन्होंने ऐश्वर्य-भाव गुप्त ही रखा है।—इसी तरह सिंधुतटपर अङ्गदके नेतृत्वमें आये हुए वानर जब समुद्र-लंघनका विचार कर रहे थे, तब जाम्बवान्‌जीने हनुमान्‌जीका ऐश्वर्य अन्ततक गुप्त ही रखा, किंतु जब कोई भी कपि-वीर तैयार न हुआ तब उन्होंने पवनतनयको जाग्रत् किया। यह राजनैतिक और व्यावहारिक नीति भी है, भावी संघर्ष बचानेके लिये ऐसा करना पड़ता है। यहाँ ज्ञानी, विज्ञानी आदि विचार अनावश्यक हैं। आगेके *'अब जनि कोउ माखै भट मानी। …………'* (२५२। ३) में भी यही हेतु है।

दीप दीप के भूपति नाना। आए सुनि हम जो पनु ठाना॥ ७॥
देव दनुज धरि मनुज सरीरा। बिपुल बीर आए रनधीरा॥ ८॥

अर्थ—हमने जो प्रतिज्ञा की थी उसे सुनकर द्वीप-द्वीपके अनेकों राजा आये॥ ७॥ देवता और दैत्य (भी) मनुष्य शरीर धरकर (आये और भी) बहुत रणधीर वीर आये॥ ८॥

टिप्पणी—१ (क) *'दीप दीप'* से सूचित किया कि समस्त पृथ्वीके राजा आये। पृथ्वीमें सप्तद्वीप हैं। प्रत्येकके अनेक राजा आये। इसीसे *'भूपति नाना'* कहा। यथा—*'सप्त दीप नवखंड भूमिके भूपति बृंद जुरे। बड़ो लाभ कन्या कीरति को जहँ तहँ महिप मुरे॥'* (गी० १। ८७) (ख) *'आए सुनि हम जो पनु ठाना'* इति। भाव कि हमारे निमन्त्रणके कारण किसी लाचारीसे आये हों सो बात नहीं है वरंच; हमारी प्रतिज्ञा सुनकर आये कि धनुष तोड़ना होगा। प्रण सुनकर आये इससे निश्चय है कि यदि ये बड़े पराक्रमी न होते तो कदापि न आते। (ग) द्वीप-द्वीपके मनुष्य उत्तरोत्तर बली होते हैं, सब द्वीपोंसे आये हैं, अतः निश्चय है कि इनमें एक-से-एक अधिक बलवान् है, यथा—*'सीय स्वयंबर भूप अनेका। समिटे सुभट एक तें एका॥'* (२९२। ४) (घ) *'आए सुनि'* का भाव कि अपनी अभिलाषासे आये कि चलकर धनुष तोड़ेंगे।—[☞ जम्बू, प्लक्ष, शाल्मलि, कुश, क्रौञ्च, शाक और पुष्कर ये सप्त द्वीप हैं। प्रत्येकमें नौ खण्ड हैं।]

टिप्पणी—२ (क) *'दीप दीपके भूपति नाना……'* से मर्त्यलोकके, देवसे स्वर्गके और दनुजसे पातालके वीर कहे। (ख) *'धरि मनुज सरीरा'* क्योंकि यहाँ मनुष्योंका समाज है, नरसमाजमें नरशरीरसे जाना चाहिये, यथा—*'धरि नृपतनु तहँ गयउ कृपाला।'* (१३५। ३) (ग) *'बिपुल बीर……'* इति। मनुष्य राजाओंके साथ *'नाना'* कहा, इसी तरह *'देव दनुज'* के साथ *'बिपुल'* कहा। इस तरह जनाया कि देवता और दैत्य बहुतसे आये। देवता मनुष्यतन धरकर भगवान्‌के दर्शनार्थ आये, यथा—*'बिधिहरिहर दिसिपति दिनराऊ। जे जानहिं रघुबीर प्रभाऊ॥ कपट बिप्र बर बेष बनाए। कौतुक देखहिं अति सचु पाए॥'* (३२१। ६-७) और, दैत्य कपटवेष धरकर धनुष तोड़ने आये, अथवा कपट करके जानकीजीको हरण करनेके विचारसे आये सो कुछ भी न करते बना। वीर हैं इसीसे रणधीर हैं, यथा—*'बीर अधीर न होहिं।'* (२। १९१)

दो०—कुँअरि मनोहर बिजय बड़ि कीरति अति कमनीय।
पावनिहार बिरंचि जनु रचेउ न धनु दमनीय॥ २५१॥

अर्थ—(एक तो) कन्या सुन्दर, (दूसरे) विजय बड़ी और (तीसरे) कीर्ति भी अत्यन्त सुन्दर (है)। (परन्तु ऐसा जान पड़ता है कि) इनका पानेवाला धनुषका तोड़नेवाला मानो ब्रह्माने रचा ही नहीं*॥ २५१॥

* वि० त्रि० यह अर्थ करते हैं—'मनको हरण करनेवाली कुँअरि, बड़ी जीत और सुन्दर कीर्तिके पानेवालेको मानो बिरंचिने रचा ही नहीं, अतः टूटनेवाला धनुष मानो बनाया ही नहीं।'

टिप्पणी—१ धनुष तोड़नेमें लाभ भारी है, इसीसे लाभके पदार्थोंमें बड़ाईके विशेषण दिये—*कुँअरि 'मनोहर'* है, बिजय *'बड़ि'* है और कीर्ति *'अति कमनीय'* है। कुँअरिको सुन्दर कहा और कीर्तिको अति सुन्दर कहा। किर्त्ति वस्तुत: सीताजीसे भी सुन्दर है। विजय बड़ी है क्योंकि इससे त्रैलोक्यविजयी कहलायेगा। अपनी कन्याको मनोहर कहते हैं; यह यहाँ अनुचित नहीं है, क्योंकि यहाँ कन्याकी सुन्दरता कथन करना अभिप्रेत नहीं है, वरंच राजाओंको लाभका बड़ा भारी होना दिखाना ही जनककी मनसा है।

नोट—१ पाँड़ेजीका मत है कि—'कुँअरिको मनोहर कहें तो नहीं बनता, इसलिये कि कोई अपनी पुत्रीका शृङ्गार वर्णन नहीं करता। इसलिये यह अर्थ किया जाता है कि—'यह जो कुँअरि, मनोहर अर्थात् बड़ी विजय त्रिलोककी, अति उत्तमतराकृत (कीर्ति ?) हैं, उनको पावनहार (पानेवाला) जो धनुष तोड़नेवाला होता उसे विरंचिने नहीं रचा।'

बैजनाथजी कहते हैं कि आर्त, क्रोध, हर्ष तथा भयके समय लज्जा नहीं रहती। यहाँ जनक आर्त और क्रोधवश हैं, अत: कन्याको मनोहर कह गये। इसी प्रकार दक्षने शिवजीपर रुष्ट होनेपर अपनी कन्याको साध्वी और मृगनयनी कहा है। यथा—'**गृहीत्वा मृगशावाक्ष्या: पाणिं मर्कटलोचन:।**'''''''**दत्ता बत मया साध्वी चोदिते परमेष्ठिना।**' (१२-१। ६) (भा० ४। २) अर्थात् इस बंदरके-से नेत्रवालेने मेरी मृगशावकनयनी कन्याका पाणिग्रहण किया।''''''''मैंने इसको अपनी साध्वी कन्या दे दी।

श्रीलाला भगवानदीनजीकी भी यही राय है कि मनोहर *'कुँअरि'* का ही विशेषण है। वह मनोहर न होती तो इतने राजा दौड़े क्यों आते? साहित्यिक रीतिसे भी यह जाना जाता है कि तीन वस्तुओंके लिये तीन विशेषण रखे हैं, उनमें हेर-फेर करनेसे साहित्यिक दोष आ जायगा। वीरकविजी कहते हैं कि राजाने शृङ्गार तो वर्णन नहीं किया, *'सुंदर कन्या'* कहना शृङ्गार-कथन कैसे कहा जायगा? वह साधारण बोल-चालकी भाषा है।

नोट—२ बिजयको बड़ी और कीर्तिको अति कमनीय कहा; क्योंकि इससे रावण-बाणासुर भी हार मान गये। अत: जो तोड़ेगा वह त्रैलोक्यविजयी कहायेगा। उसकी कीर्ति युग-युग किंतु महाकल्पतक गायी जावेगी। अतएव कीर्तिको अति कमनीय कहा। (रा० प्र०)

नोट—३ यहाँ तोड़नेवालेको अर्थ, धर्म और काम तीनोंका लाभ दिखाते हैं। राजकुमारी लोकोत्तर गुणरूप-स्वभावादि सभी प्रकार सुन्दर है—यह काम-फलकी प्राप्ति है। बिना सेना और अस्त्र-शस्त्रके, बिना सप्तद्वीपादिमें गये केवल धनुषके उठानेसे त्रैलोक्यविजयका लाभ यह बड़ा विजय अर्थफलकी प्राप्ति है। बिना एक पैसा भी दान किये समस्त लोकोंमें उसको यश प्राप्त होगा यह कीर्ति धर्मफलकी प्राप्ति है। (बै०)

टिप्पणी—२ *'बिरंचि जनि''''''* इति। तीनों लोकोंके वीर आये, धनुष किसीने न तोड़ा, इससे पाया गया कि धनुष तोड़नेवाला ब्रह्माने नहीं रचा। यहाँ यह नहीं कहते कि ब्रह्माने धनुदमनीयको बनाया ही नहीं, क्योंकि विरंचिके कर्तव्यको कोई जान ही नहीं सकता। यथा—*'भूप सयानप सकल सिरानी। सखि बिधि गति कछु जाति न जानी॥'* (२६५। ५) इसीसे उत्प्रेक्षामात्र करते हैं। यहाँ 'अनुक्तविषयावस्तूत्प्रेक्षा' है।

मा० त० वि० कार लिखते हैं कि 'पानेवाला मानो ब्रह्माने रचा ही नहीं, हमारी प्रतिज्ञा व्यर्थ हुई जाती है—इसमें वह भी ध्वनि है कि ब्रह्माजीकी रचनासे भिन्न ही ऐसा कोई पुरुषोत्तम होगा जो इसे तोड़ेगा।'**इति योगबल अकस्मात् भविष्यगुप्तकथनम्।**' यद्यपि यहाँ उत्प्रेक्षा है फिर भी दैवयोगसे अनुभवी महात्माओंके वाक्य यथार्थ ही होते हैं। वैसे ही यह बात यथार्थ ही है कि धनुषके तोड़नेवाले ब्रह्माके बनाये नहीं हैं। ग्राम्यवधूटियोंका कथन भी ऐसा ही है, यथा—*'आपु प्रगट भए बिधि न बनाए॥'* (२। १२०) ऐसे ही श्रीहनुमान्‌जीका वाक्य है—*'की तुम्ह अखिल भुवनपति''''''।'*

☞ मिलानका श्लोक—'**आद्वीपात्परतोऽप्यमी नृपतय: सर्वे समभ्यागता: कन्येयं कलधौतकोमलरुचि: कीर्त्तिस्तनात्तत्परा:। नाकृष्टं न च टंकितं न नमितं नोत्थापितं स्थानत: केनापीदमहो महद्धनुरिदं निर्वीर-मुर्वीतलम्॥**'(हनुमन्नाटके)—(पं० रामकुमारजी) हनुमन्नाटक अङ्क एकका यह दसवाँ श्लोक है, पर दूसरा चरण

पुस्तकमें यह है—'**कन्यायाःकलधौतकोमलरुचेः कीर्तेश्च लाभः परः।**' यह वचन श्रीरामचन्द्रजीके हैं। वे श्रीलक्ष्मणजीसे कह रहे हैं कि 'ये सम्पूर्ण राजा लोग सब द्वीपोंसे इकट्ठे होकर आये हैं, और इसमें तपाये हुए सुवर्णके समान कान्तिवाली कन्या और दूसरे कीर्तिका लाभ है, तिसपर भी इस धनुषको न तो किसीने खींचा, न टंकित (टंकारशब्द) किया और न नवाया, न किसीने स्थानसे उठाया, बड़ा आश्चर्य है कि यह पृथ्वी वीरोंसे शून्य है।—बस अब पाठक स्वयं विचार लें कि ये वचन किसके मुखसे शोभित हैं?' जनकके या रामके मुखसे? उसपर भी '*रहौ चढ़ाउब तोरब भाई। तिलु भरि भूमि न सके छड़ाई॥*' (२५२। २) इत्यादि वाक्योंकी छवि और गौरवको श्लोक कहाँ पा सकता है?

कहहु काहि येहु लाभ न भावा। काहुँ न संकर चाप चढ़ावा॥ १॥
रहौ चढ़ाउब तोरब भाई। तिलु भरि भूमि न सके छड़ाई॥ २॥
अब जनि कोउ भाखै भट मानी। बीर बिहीन मही मैं जानी॥ ३॥

अर्थ—(भला) कहिये तो यह लाभ किसको नहीं सुहाता? (सभीको प्रिय है परंतु) किसीने भी शङ्कर-चाप न चढ़ाया॥ १॥ अरे भाई! चढ़ाना और तोड़ना तो (दरकिनार, अलग वा दूर) रहा, तिलभर भूमि भी कोई न छुड़ा सका॥ २॥ कोई भी अभिमानी भट (अब हमारे कहनेपर) 'माष' न करे, मैं जान गया कि पृथ्वी वीरोंसे रहित हो गयी है॥ ३॥

टिप्पणी—१ (क) '*काहि येहु लाभ न भावा*' अर्थात् सभीको तो भाया, यथा-'*सुनि पन सकल भूप अभिलाषे।*' '*येहु लाभ*' इति। भाव कि सामान्य लाभ राजाओंको नहीं भाता, स्त्री, जय और कीर्ति सामान्यतः सभी राजाओंके यहाँ हैं, परंतु यहाँ ये सब असाधारण हैं—कुँअरिकी उपमा त्रैलोक्यमें नहीं है, विजय तीनों लोकोंकी है और कीर्ति भी त्रैलोक्यमें है। यथा—'*महि पाताल ब्योम जसु ब्यापा। राम बरी सिय भंजेउ चापा॥*' चाप न चढ़ा पानेसे तीनोंकी हानि हुई, जो कीर्ति आदि प्राप्त थी सो भी नष्ट हुई—'*चले चाप कर बरबस हारी।*' तात्पर्य कि पराक्रम होता तो ऐसी भारी हानि कोई क्यों अङ्गीकार करता? [अर्धालीका भाव यह है कि हाथी, घोड़े, रथ, ऐश्वर्य, कीर्ति इत्यादि तो सभीके पास हैं, पर यहाँ जिस वस्तुकी प्राप्ति है वह किसीके पास नहीं है, क्योंकि यदि होती तो प्रण सुनकर यहाँ न आते और आये थे तो धनुषके पास भी न जाते और न इसे लेनेको लालायित होते। ऐसे लाभके लिये मनुष्य क्या न कर डालता, पर तुम लोगोंसे तो कुछ भी न हुआ। '*संकर*' शब्द भी सार्थक है। अर्थात् इससे तोड़नेवालेका भी कल्याण होता। (प्र० सं०) महाराज जनक समझ रहे हैं कि ये अभिमानी पीछे कहेंगे कि मुझे कन्या पसन्द नहीं थी। अतः, वे कहते हैं कि जिसे यह लाभ अच्छा न लगता हो वह इस समाजमें बोल दे, सब लोग उसका भी रूप देख लें कि किस मुखसे कह रहा है। (वि० त्रि०)] (ख) '*रहौ चढ़ाउब तोरब भाई।*......' इति। तात्पर्य कि जो तिलभर भूमि भी छुड़ा पाते तो हमारा प्रण रह जाता। ☞ यहाँ जनाया कि बल-पराक्रम तीन प्रकारका होता है, उत्तम-मध्यम और निकृष्ट। तीनोंका यहाँ निराकरण करते हैं। तोड़ना उत्तम बल है, चढ़ाना मध्यम है और तिल भर छुड़ा देना यह निकृष्ट है; सो इन तीनोंमेंसे उत्तम-मध्यमकी कौन कहे निकृष्ट बलका भी लेश नहीं है। (ग) '*तिल भरि भूमि*......' इति। बन्दी लोगोंने धनुष तोड़नेकी बात कही, यथा—'*राज समाज आज जोइ तोरा*', और जनकजीने चढ़ाना भी कहा, यथा—'*रहौ चढ़ाउब तोरब*......।' इससे स्पष्ट कर दिया कि वीरोंको ये दोनों काम करने थे—प्रत्यंचा वा रोदा चढ़ाना और धनुष तोड़ना।—सो अब इन दोनोंका भी निराकरण करते हैं कि ये दोनों रहे, हम तो आशा करते थे कि कम-से-कम जगहसे हटा ही देंगे पर यह भी तो तुमसे न बन पड़ा। (घ) '*भाई*' सम्बोधन एक जाति होनेसे भी ठीक है, सब राजा हैं इस नाते भाई सम्बोधन हुआ। (ङ) '*तिल भरि*'=जरा-सा भी=अल्प प्रमाण, यथा—'*तिन्ह के आयुध तिल सम करि काटे रघुबीर*', '*कोटिन्ह आयुध रावन डारे। तिल प्रमान करि काटि निवारे॥*'